

जिनभाषित

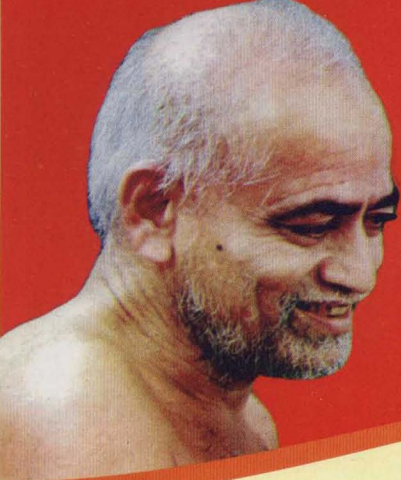
वीर निर्वाण सं. 2533



श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि
कोनी जी, पाटन के
जिन मन्दिर-समूह की झाँकी

आषाढ, वि.सं. 2064

जून-जुलाई, 2007



आचार्य श्री विद्यासागर जी के दोहे

37

शील, नसीले द्रव्य के, सेवन से नश जाय ।
संत-शास्त्र-संगति करे, और शील कस जाय ॥

38

जठरानल अनुसार हो, भोजन का परिणाम ।
भावों के अनुसार ही, कर्म-बन्ध-फल-काम ॥

39

नस नस मानस - रस, नसे, नसे मोह का वंश ।
लसे हृदय में बस भले, जिनोपासना अंश ॥

40

यम-संयम-दम-नियम ले, कर आगम अभ्यास ।
उदास जग से, दास बन प्रभु का सो संन्यास ॥

41

गुरु-चरणों की शरण में, प्रभु पर हो विश्वास ।
अक्षय-सुख के विषय में, संशय का हो नाश ॥

42

स्वयं तिरे, ना तारती कभी अकेली नाव ।
पूजा नाविक की करो, बने पूज्य तब नाव ॥

43

नहीं व्यक्ति को पकड़ तू, वस्तु-धर्म को जान ।
मान तथा बहुमान दे, विराटता का गान ॥

44

वर्ण लाभ वरदान है, संकर से हो दूर ।
नीर-दूध में ले मिला, आक-दूध ना भूल ॥

45

गगन चूमते शिखर हैं, भू-स्पर्शी क्यों द्वार ?
बता जिनालय ये रहे, नत बन, मत मद धार ॥

46

सार-सार का ग्रहण हो, असार को फटकार ।
नहीं चालनी तुम बनो, करो सूप-सत्कार ॥

47

नयन-नीर लख नयन में, आता यदि ना नीर ।
नीर पोंछना पूछना, उपरिल उपरिल पीर ॥

48

बड़े-बड़े ना पाप हों, बड़ी-बड़ी ना भूल ।
चमड़ी दमड़ी के लिए पगड़ी पर क्यों धूल ? ॥

49

एक तरफ से मित्रता, सही नहीं वह मित्र ।
अनल पवन का मित्र, ना पवन अनल का मित्र ॥

50

विगत अनागत आज का, हो सकता श्रद्धान ।
शुद्धात्म का ध्यान तो, घर में कभी न मान ॥

51

मात्रा मौलिक कब रही, गुणवत्ता अनमोल ।
जितना बढ़ता ढोल है, उतनी बढ़ती पोल ॥

52

चाव-भाव से धर्म कर, उज्वल कर ले भाल ।
माल नहीं पर भाव से, बन तू मालामाल ॥

53

मोही जड़ से भ्रमित हो, ज्ञानी तो भ्रम खोय ।
नीर उष्ण हो अनल से, कहाँ उष्ण हिम होय ॥

54

सागर का जल तप रहा, मेघ बरसते नीर ।
बह-बह वह सागर मिले, यही नीर की पीर ॥

‘पूर्णोदयशतक’ से साभार

जून-जुलाई 2007

मासिक

वर्ष 6, अङ्क 6-7

जिनभाषित

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282 002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	500 रु.
वार्षिक	100 रु.
एक प्रति	10 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

- | | पृष्ठ |
|---|--------------------|
| ◆ आचार्य श्री विद्यासागर जी के दोहे | आ.पृ. 2 |
| ◆ कथाएँ : मुनि श्री समता सागर जी | |
| ● भगवान् अरनाथ | 36 |
| ● भगवान् मल्लिनाथ | 39 |
| ◆ सम्पादकीय : शुभोपयोग क्षायोपशमिकभाव भी है | 2 |
| ◆ लेख | |
| ● चातुर्मास का नियम : स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार | 11 |
| ● मूर्तिनिर्माण की प्राचीन रीति : स्व.पं. मिलापचन्द्र जी कटारिया | 13 |
| ● सल्लेखना आत्महत्या नहीं : प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' | 16 |
| ● सल्लेखना : देहविसर्जन की वैज्ञानिक प्रक्रिया : ब्र. पुष्पा जैन | 21 |
| ● श्रमण के मूलगुणों का नैतिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण : डॉ. श्रेयांसकुमार जैन | 23 |
| ● रात्रि में देवपूजन करना आगम-सम्मत नहीं : पं. पुलक गोयल, इन्दौर | 28 |
| ● जीवधर्म के प्रवर्तक भगवान् वृषभदेव (आदिनाथ) : पं. अनन्तबल्ले जैनदर्शनाचार्य | 31 |
| ● कविवर पं. दौलतराम जैन : सुमत कुमार जैन | 35 |
| ● 1857 के महासभा के दो जैन महानायक : डॉ. ज्योति जैन | 37 |
| ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा | 40 |
| ◆ प्रतिवेदन | |
| ● एक अनुपम आयोजन श्रुताराधना शिविर : डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन | 42 |
| ● आचार्य श्री विद्यासागर जी से पत्रकारों की बातचीत : डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन | 46 |
| ◆ कविता : श्रुतपंचमीपर्व-वन्दनाष्टक : प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार शास्त्री 'दीवान' | आ.पृ. 3 |
| ◆ समाचार | 12, 20, 22, 27, 45 |

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

शुभोपयोग क्षायोपशमिकभाव भी है

कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) में दिनांक १४ मई से १६ मई २००७ तक सम्पन्न श्रुताराधना शिविर में परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी ने विद्वानों को एक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से अवगत कराया कि शुभोपयोग केवल औदयिक ही नहीं होता, अपितु औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भी होता है।

दिगम्बर जैनों का जो वर्ग चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग की उत्पत्ति मानता है, वह यह भी मानता है कि शुभोपयोग औदयिकभाव है, उससे कर्मों का बन्ध होता है, अतः मोक्ष में बाधक होने से हेय है। शुभोपयोग के औदयिकभाव होने के प्रमाण में वह वर्ग आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचन उद्धृत करता है, जिनमें उन्होंने मिथ्यादृष्टि को कदाचित् शुभोपयोग भी होने की बात कही है-

“--- तत्रैवं कथञ्चित् परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोग-परिणामं करोति। कदचित्पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षा-निदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति।” (तात्पर्यवृत्ति/समयसार/गा. ७४ ‘जीवणिबद्धा एए’)

अनुवाद- “--- इस प्रकार जीव के कथञ्चित् परिणामी होने से अज्ञानी, बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि जीव विषयकषायरूप अशुभोपयोगपरिणाम करता है और कदाचित् चिदानन्दैकस्वभाव-शुद्धात्मा को छोड़कर भोगा-कांक्षानिदानस्वरूप शुभोपयोग परिणाम भी करता है।”

आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में भी कहा है-

“यदा --- सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च। नोचेत् पुण्यबन्धमात्रमेव।” (ता.वृ./प्रवचनसार/३/५५)।

अनुवाद- “जब --- सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब साक्षात् पुण्यबन्ध होता है और परम्परया निर्वाण, अन्यथा (शुभोपयोग के सम्यक्त्वपूर्वक न होने पर) केवल पुण्यबन्ध होता है।”

यहाँ आचार्य जयसेन ने ‘नोचेत्’ (अन्यथा) शब्द से सूचित किया है कि मिथ्यात्व की अवस्था में भी शुभोपयोग होता है। मिथ्यादृष्टि को होनेवाला शुभोपयोग निश्चितरूप से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीकषाय के मन्दोदय का परिणाम है। अतः वह औदयिकभाव है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान को औदयिकभाव कहा भी गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने भी मोहनीय के उदय में शुभाशुभ उपयोग की उत्पत्ति बतलायी है। यथा-

“यो हि मोहनीयोदयानुवृत्तिवशाद् रज्यमानोपयोगः सन् परद्रव्ये शुभमशुभं वा भावमादधाति स स्वकचरित्र-भ्रष्टः परचरित्रचर इति उपगीयते। यतो हि स्वद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्तिः स्वचरितम्। परद्रव्ये सोपरागोपयोगवृत्तिः परचरितमिति।” (समयव्याख्या/पंचास्तिकाय/गा. १५६)।

अनुवाद- “जो जीव मोहनीयकर्म के उदय का अनुसरण करने के कारण उपयोग के रागग्रस्त होने पर परद्रव्य में शुभ या अशुभ भाव करता है, वह स्वचरित्र से भ्रष्ट हो जाता है, अतः परचरित्र का आचरण करनेवाला कहलाता है, क्योंकि स्वद्रव्य (स्वात्मा) में शुद्धोपयोगवृत्ति होना स्वचरित है और परद्रव्य में सरागोपयोगवृत्ति (उपयोग की रागसहित वृत्ति) होना परचरित है।”

इन प्रमाणों को देखते हुए यह बात मान्य है कि मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग औदयिकभाव है, अतः उससे केवल पुण्यबन्ध होता है, संवर-निर्जरा नहीं। किन्तु, आचार्य श्री विद्यासागर जी ने शुभोपयोग की जो मीमांसा की उससे ज्ञात हुआ कि आगम में शुभोपयोग को औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव भी कहा गया है। आचार्यश्री ने निम्नलिखित प्रमाणों की ओर ध्यान आकृष्ट किया-

१. चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान औपशमकादिभावों से निष्पन्न

गोम्मटसार-जीवकाण्ड में कहा गया है-

मिच्छे खलु ओदङ्गयो बिदिए पुण पारिणामिओ भावो ।

मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्ममि तिण्णोव ॥ ११ ॥

एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा दु ।

चारित्तं णत्थि जदो अविरद अंतेसु ठाणेसु ॥ १२ ॥

देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमिय भावो दु ।

सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तथा उवरिं १३ ॥

तत्तो उवरिं उवसमभावो उवसामगेसु खवगेसु ।

खड्ढो भावो णियमा अजोगिचरमो त्ति सिद्धे य ॥ १४ ॥

अनुवाद- “मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में औदयिकभाव होता है, सासादनसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान में पारिणामिक-भाव, सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव तथा अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोप-शमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनों की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनों भाव होते हैं। ये भाव नियम से दर्शनमोह की अपेक्षा कहे गये हैं, क्योंकि अविरत-सम्यग्दृष्टि-पर्यन्त चार गुणस्थानों में चारित्र नहीं होता।” (११-१२)।

“देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में क्षायोपशमिकभाव होता है, क्योंकि देशविरतगुणस्थान अप्रत्याख्यानवरण-कषायों के क्षयोपशम से तथा शेष दो प्रत्याख्यानवरण-कषायचतुष्क के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। ये भाव तथा ऊपर के गुणस्थानों के भाव चारित्रमोह की अपेक्षा कहे गये हैं।” (१३)।

“अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान से ऊपर उपशमकश्रेणी-सम्बन्धी अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानों में औपशमिक-भाव होता है, क्योंकि इनमें होनेवाला संयम चारित्रमोह के उपशम से होता है। तथा क्षपकश्रेणीसम्बन्धी अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानों में और सयोगिकेवली-अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानों में क्षायिकभाव होता है, क्योंकि इनमें होनेवाला चारित्र चारित्रमोह के क्षय से होता है। सिद्धपरमेष्ठी में भी क्षायिकभाव होता है।” (१४)।

धवलाटीका (ष.खं./पु.१/१, १, १२ तथा १४/पृष्ठ १७३ तथा १७५-१७६) में भी उपर्युक्त गुणस्थान उपर्युक्त भावों से ही उत्पन्न बतलाये गये हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी सम्यक्त्व और चारित्र (संयम) को औपशमिक (२/३), क्षायोपशमिक (२/५) एवं क्षायिक भाव (२/४) तथा संयमासंयम को क्षायोपशमिक भाव प्ररूपित किया गया है।

२. असंयतसम्यग्दृष्टि आदि के सम्यक्त्वादि-परिणाम शुभोपयोग

आगम में असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत एवं प्रवृत्तिरत-अप्रमत्तसंयत जीवों के सम्यक्त्व, संयमासंयम एवं संयम परिणाम को, जो औपशमिक, क्षायोपामिक और क्षायिक भाव हैं, शुभोपयोग संज्ञा दी गयी है। यथा-

२.१. “--- परमभट्टारक-महादेवाधिदेव-परमेश्वरार्हत्सिद्ध-साधु-श्रद्धाने --- प्रवृत्तः शुभ उपयोगः।”
(तत्त्वदीपिकावृत्ति/प्रवचनसार/१/६४)।

अनुवाद- “परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर अरहन्त, सिद्ध और साधुओं के श्रद्धान में प्रवृत्त उपयोग शुभोपयोग है।”

यहाँ श्रद्धान अर्थात् सम्यक्त्व में प्रवृत्त उपयोग को शुभोपयोग कहा गया है।

२.२. “इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामतः मोहः। विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ। तस्यैव मन्दोदये विशुद्धपरिणामतः चित्तप्रसादपरिणामः। एवमिमे यस्य भावे भवन्ति, तस्यावश्यं भवति शुभोऽशुभो वा परिणामः। तत्र यत्र प्रशस्तरागश्चित्तप्रसादश्च तत्र शुभः परिणामः। यत्र मोहद्वेषावप्रशस्तरागश्च तत्राऽशुभ इति।” (समयव्याख्या / पंचास्तिकाय / गा. १३१)।

अनुवाद- “दर्शनमोहनीय के उदय से होनेवाला कलुष परिणाम मोह कहलाता है तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न प्रीति और अप्रीति रागद्वेष कहलाते हैं। चारित्रमोहनीय के ही मन्दोदय में जो विशुद्धपरिणाम होता है, उसे चित्तप्रसाद (चित्त की निर्मलता) कहते हैं। जिसमें ये भाव उत्पन्न होते हैं, उसके शुभ या अशुभ परिणाम अवश्य होता है। उन भावों में से जहाँ (जिस जीव में) प्रशस्तराग और चित्तप्रसाद (विशुद्धपरिणाम) होता है, वहाँ शुभपरिणाम होता है, जहाँ मोह (मिथ्यात्व), द्वेष और अप्रशस्तराग होता है, वहाँ अशुभपरिणाम होता है।”

इस विवेचन में मिथ्यात्व (मोह) को अशुभ परिणाम कहा गया है, जिससे यह स्वतः सिद्ध है कि सम्यक्त्व शुभपरिणाम अर्थात् शुभोपयोग के रूप में विवक्षित है।

२.३. ‘व्यवहारनयः पुनः --- प्रयोजनवान् भवति। केषाम्? ये पुरुषाः पुनः अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टि-लक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः --- तेषामिति भावार्थः।’ (तात्पर्यवृत्ति / समयसार / गा.१२)।

अनुवाद- “और व्यवहारनय प्रयोजनवान् होता है। किनके लिए? जो पुरुष अपरमभाव अर्थात् अशुद्ध अवस्था में- असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा सरागसम्यग्दर्शनरूप शुभोपयोग में तथा प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत की अपेक्षा भेदरत्नत्रयरूप शुभोपयोग में स्थित होते हैं, उनके लिए।”

यहाँ आचार्य जिनसेन ने असंयतसम्यग्दृष्टि एवं संयतासंयत के सम्यग्दर्शन को, जो कि सराग होता है शुभोपयोग कहा है तथा प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत के भेदरत्नत्रय को ‘शुभोपयोग’ शब्द से अभिहित किया है। भेदरत्नत्रय में सम्यग्दर्शन भी शामिल है, अतः उसे भी ‘शुभोपयोग’ शब्द से अभिहित किया गया है, यह स्वतः सिद्ध है। यहाँ इन चारों गुणस्थानों में होनेवाले सम्यग्दर्शनमात्र को शुभोपयोग कहा है, इससे यह भी सिद्ध है कि इन गुणस्थानों में होनेवाला सम्यग्दर्शन चाहे औपशमिक हो, क्षायोपशमिक हो या क्षायिक हो, शुभोपयोग ही है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन भी यहाँ सराग ही होता है।

सरागसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति निम्नलिखित दोषों के अभाव और गुणों के सद्भाव से होती है। ये सरागसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व के लक्षण हैं। इनके बिना सम्यक्त्व का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, जैसा कि आचार्य जयसेन ने कहा है-

“केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य-

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भन्ती।

वच्छल्लं अणुकंपा गुणदु सम्मत्तजुत्तस्स ॥ (वसुनन्दि-श्रावकाचार/४९)।

इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्ति - सरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। (तात्पर्यवृत्ति / समयसार / गा. १७७ - १७८)।

अनुवाद- “केवलज्ञानादि-अनन्तगुण-सहित परमात्मा को ही उपादेय मानना, वीतरागसर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों और नौ पदार्थों में श्रद्धा होना, तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों का अभाव

होना, और १. संवेग (धर्म में अनुराग), २. निर्वेद (भोगों में अनासक्ति), ३. निन्दा (अपने दोषों को स्वीकार करना), ४. गर्हा (गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना), ५. उपशम (अनुकूल स्थितियों में हर्षोन्मत्त एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में उद्विग्न न होना), ६. भक्ति (पंच परमेष्ठियों में अनुराग), ७. वात्सल्य (साधर्मियों से प्रीति) एवं ८. अनुकम्पा (दुःखी जीवों पर दयाभाव) ये आठ गुण होना सरागसम्यक्त्व के लक्षण हैं। इनके बिना चतुर्थगुणस्थानवर्ति-सरागसम्यक्त्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।”

इन भावों से सम्पृक्त उपयोग सम्यक्त्वमय उपयोग है, अतएव वह शुभोपयोग है और चूँकि वह सम्यक्त्वमय है, अतः औदयिक भाव नहीं, अपितु औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव है।

निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व आदि आठ गुण भी सम्यक्त्व के अंग हैं। इनसे युक्त उपयोग भी सम्यग्दर्शनोपयोग है। सम्यक्त्व के उपर्युक्त सभी गुण निर्जरा के कारण होते हैं-

संकाई-दोस-रहिओ णिस्संकाइ-गुण-जुयं परमं।

कम्मणिज्जरणहेऊ तं सुद्धं होई सम्मत्तं ॥ ५१ ॥ वसुनन्दि-श्रावकाचार।

२.४. 'वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः --- सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ताः ---।' (तात्पर्यवृत्ति / प्रवचनसार/३/६०)।

अनुवाद- “जिसका लक्षण वीतरागचारित्र है, उस शुद्धोपयोग से युक्त --- जिसका लक्षण सरागचारित्र है, उस शुभोपयोग से युक्त ---।” यहाँ सरागचारित्र अर्थात् प्रमत्तसंयत एवं प्रवृत्तिरत-अप्रमत्तसंयत के महाव्रतादि-रूप सम्यक्चारित्र को शुभोपयोग नाम दिया गया है।

२.५.

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।

वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं ॥ ४५ ॥ बृहद्द्रव्यसंग्रह।

अनुवाद- “अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानना चाहिए। जिनेन्द्रदेव ने व्रत-समिति-गुप्तिरूप शुभवृत्ति को व्यवहारनय से सम्यक्चारित्र कहा है।”

इसकी व्याख्या करते हुए श्री ब्रह्मदेव लिखते हैं- “शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे शिष्य चारित्रं जानीहि। तच्चाचाराराधनादिशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चसमिति-त्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्रा-भिधानं भवति।”

अनुवाद- “हे शिष्य! शुभोपयोग में प्रवृत्ति को चारित्र समझो। वह ‘मूलाचार’, ‘भगवती-आराधना’ आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे हुए अनुसार पञ्चमहाव्रत, पंचसमिति और त्रिगुप्तिरूप है, तो भी उसका नाम अपहृतसंयम है और शुभोपयोगरूप है। वह सरागचारित्र कहलाता है।

यहाँ भी बृहद्द्रव्यसंग्रहकार और टीकाकार दोनों ने छठे और सातवें गुणस्थानों में होनेवाले महाव्रतादि-सरागचारित्र को शुभोपयोग कहा है।

२.६. “मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयत-गुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिकक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धो-पयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः।” (तात्पर्यवृत्ति / प्रवचनसार/१/९)।

अनुवाद- “मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में उत्तरोत्तर घटता हुआ अशुभोपयोग होता है, उसके बाद असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में क्रमशः बढ़ता हुआ शुभोपयोग होता है, तदनन्तर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय-गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानों में क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ शुद्धोपयोग होता है और उसके बाद सयोगिजिन एवं अयोगिजिन नामक दो गुणस्थानों में

शुद्धोपयोग का केवलज्ञानरूप फल होता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आगम में चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें (प्रवृत्तिपरक भाग) गुणस्थानों में होनेवाले सम्यग्दर्शन, संयमासंयम (सराग देशचारित्र) एवं सरागसंयम (सरागचारित्र) को शुभोपयोग कहा गया है।

३. उक्त गुणस्थानों में उक्त भाव शुभोपयोग ही क्यों

आगम में बंध और मुक्ति के कारणभूत तीन ही उपयोग बतलाये गये हैं : अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। उपर्युक्त सम्यग्दर्शन, संयमासंयम और सरागसंयम अशुभोपयोग नहीं हैं, यह निर्विवाद है। और ये शुद्धोपयोग हो नहीं सकते, क्योंकि आगम में अभेदरत्नत्रय या निश्चयरत्नत्रय को शुद्धोपयोग कहा गया है और उसकी उत्पत्ति भेदरत्नत्रय या व्यवहाररत्नत्रय से बतलायी गयी है। (देखिए, 'जिनभाषित' मई, २००७, सम्पादकीय- 'निश्चयरत्नत्रय का नाम शुद्धोपयोग')। असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत (देशविरत) नामक चौथे-पाँचवें गुणस्थानों में महाव्रतादिरूप सम्यक्चारित्र न होने से व्यवहाररत्नत्रय नहीं होता, अतः व्यवहाररत्नत्रयरूप कारण के अभाव में निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान में व्यवहाररत्नत्रय होता है, तथापि प्रमाद का सद्भाव एवं संज्वलनकषाय का तीव्रोदय होने से तथा अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान में कदाचित् संज्वलन कषाय के तीव्रोदय से त्रिगुप्ति संभव नहीं होती, जिससे वीतरागचारित्र संभव नहीं होता। इसलिए छठे गुणस्थान में और सातवें गुणस्थान के प्रवृत्तिपरक भाग में निश्चयरत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। फलस्वरूप उपर्युक्त गुणस्थानों में उत्पन्न सम्यग्दर्शन, संयमासंयम और संयम शुद्धोपयोग नहीं हो सकते। अतः अन्यथानुपपत्ति न्याय से सिद्ध होता है कि उक्त सम्यग्दर्शनादि भाव शुभोपयोग ही हैं। उपर्युक्त कारणों से उक्त गुणस्थानों में होनेवाला क्षायिक सम्यग्दर्शन भी शुभोपयोग ही है। सम्यग्दर्शन के साथ 'क्षायिक' शब्द जुड़ा होने से इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि वह शुद्धोपयोग है, क्योंकि जिन गुणस्थानों में शुद्धोपयोगोत्पत्ति की कारणसामग्री ही नहीं होती, उनमें उत्पन्न होने वाला क्षायिकसम्यग्दर्शन शुद्धोपयोग कदापि नहीं हो सकता। उक्त गुणस्थान सराग होते हैं, इसलिए उनमें उत्पन्न हुआ क्षायिकसम्यग्दर्शन भी सराग होता है, अतः सराग होने से उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन ही कहा गया है, निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं। जब उसके साथ वीतराग अवस्था जुड़ जाती है, तब वह निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाने लगता है। इसमें निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं-

“प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते। तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति। तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति। अत्राह प्रभाकरमट्टः-निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत्? निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थकरपरमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः, अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह- तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते, परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तव-वस्तुस्तव-रूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति, तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषादुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः।” (ब्रह्मदेवटीका / परमात्मप्रकाश / २ / १७)।

अनुवाद- “जो सम्यक्त्व प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह सरागसम्यक्त्व कहलाता है। वही व्यवहारसम्यक्त्व है। छह द्रव्य उसके विषय हैं। जो निजशुद्धात्मानुभूति के रूप में प्रकट होता है, उसे वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं। वही निश्चयसम्यक्त्व है।

“यहाँ शिष्य प्रभाकरभट्ट प्रश्न करता है- आप पहले कई बार व्याख्या कर चुके हैं कि ‘निज शुद्धात्मा ही उपादेय है’ ऐसी श्रद्धा होना निश्चयसम्यक्त्व है। अब कह रहे हैं कि जो सम्यक्त्व वीतरागचारित्र के बिना नहीं होता (वीतरागचारित्र के होने पर ही होता है) वह वीतरागसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्व है। इस पूर्वापरविरोध का क्या कारण है? ‘निज शुद्धात्मा ही उपादेय है’ ऐसी श्रद्धा-रूप निश्चयसम्यक्त्व गृहस्थावस्था में तीर्थकर-परमदेव, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि में विद्यमान था, किंतु उनके वीतरागचारित्र नहीं था, यदि होता, तो वे असंयत कैसे होते?

“गुरु इस विरोध का परिहार करते हैं- उनमें ‘निजशुद्धात्मा ही उपादेय है’, ऐसी भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व था, किंतु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं थी, जिससे व्रतों की प्रतिज्ञा भंग हो सकती थी, इस कारण वे असंयत थे। शुद्धात्मभावना से रहित होने के कारण भरत आदि निर्दोषिपरमात्माओं- अरहन्तों और सिद्धों का गुणस्तवन, वस्तुस्तवन, रूपस्तवन आदि करते थे, उनके चरित्र-पुराण आदि सुनते थे, उनके आराधक पुरुषों- आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को अपने विषयकषायात्मक दुर्ध्यान को टालने तथा संसारस्थिति का छेद करने के लिए दान, पूजा आदि करते थे, इस कारण शुभराग के योग से वे सरागसम्यग्दृष्टि थे। और जो उनके सम्यक्त्व को निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है, वह इस अपेक्षा से कहा गया है कि वह वीतरागचारित्र के बिना न होनेवाले वीतरागसम्यक्त्वरूप निश्चयसम्यक्त्व का परम्परया साधक है। वस्तुतः तो वह सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व ही है।”

इस व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थावस्था में भरत चक्रवर्ती आदि का क्षायिकसम्यक्त्व भी सरागसम्यक्त्व ही था तथा चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानों में वीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग संभव न होने से, वह क्षायिकसम्यक्त्व भी, जो सम्यक्त्व के वात्सल्य आदि आठ अंगों और भक्ति आदि आठ गुणों के रूप में प्रकट होता है, शुभोपयोग ही था।

४. वीतरागचारित्रशून्य क्षायिकसम्यक्त्व उपचार से वीतरागसम्यक्त्व

भट्ट अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा है कि दर्शनमोहनीय की सातों प्रकृतियों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर जो आत्मविशुद्धिमात्र प्रकट होती है, वह वीतरागसम्यक्त्व है- “सप्तानां कर्मप्रकृतीनामात्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरासम्यक्त्वमित्युच्यते।” (त.रा.वा./१/२/३१/पृ.२२)। आचार्य अमितगति ने भी अपने श्रावकाचार (२/६५-६६) में इस कथन का अनुसरण किया है।

यह कथन उपचार से किया गया है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी की सात प्रकृतियों के क्षय से केवल सम्यक्त्व प्रकट होता है, संयम नहीं। अप्रत्याख्यानवरणादि कषायों के उदय से पूर्ण असंयम का उदय रहता है। अतः वीतरागचारित्र का अंश भी नहीं होता, जिससे चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिकसम्यक्त्व को वीतराग कहा जा सके। क्षायिकसम्यग्दृष्टि तो प्रथम नरक, भोगभूमि और देवगति में भी होते हैं, किंतु उनमें तो अणुव्रत भी प्रकट नहीं हो सकते, वीतरागचारित्र की तो बात ही क्या? आचार्य जयसेन कहते हैं कि वीतरागचारित्र की उत्पत्ति अप्रमत्तादि गुणस्थानों में होती है और उसके होने पर ही वीतरागसम्यक्त्व का आविर्भाव होता है- “अप्रमत्तादिगुणस्थानवर्ति-वीतराग-चारित्राविनाभूत-वीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः।” (तात्पर्यवृत्ति /

सयमसार/गाथा-‘रागो दोसो मोहो’/१७७-१७८)

एक जिज्ञासु ने स्व. पं. रतनचन्द्र जी मुख्तार से इस विसंगति का समाधान चाहा था। मुख्तार जी ने समाधान में कहा-“इसका ऐसा अभिप्राय ज्ञात होता है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही क्षपकश्रेणी में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयकर पूर्ण वीतरागी हो सकता है, अतः क्षायिकसम्यग्दर्शन को वीतराग कहा है। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि चारित्रमोह का क्षय नहीं कर सकते, अतः उनके सम्यग्दर्शन को सरागसम्यग्दर्शन कहा है।” (पं. रतनचन्द्र मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व/भाग१/पृ.३६७)।

मेरा विचार है कि अकलंकदेव ने औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनों से क्षायिकसम्यग्दर्शन की यह उत्कृष्टता बतलाने के लिए कि उसे प्राप्त करनेवाला शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करता है, प्रथम दो को सरागसम्यक्त्व और क्षायिक को वीतरागसम्यक्त्व शब्दों से अभिहित किया है, जो उपचार मात्र है, परमार्थ नहीं।

५. प्रशस्तराग, अनुकम्पा, अकालुष्य का नाम शुभोपयोग

आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय में प्रशस्तराग, अनुकम्पा (दुःखीजनों के प्रति कारुण्यभाव) और अकालुष्य (क्रोधादि के मन्दोदय में उत्पन्न विशुद्धपरिणाम या चित्तप्रसाद = प्रशमभाव) को शुभोपयोग कहा है-

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।

चित्तमिह णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥ १३५ ॥ पंचास्तिकाय ।

प्रशस्तराग का लक्षण उन्होंने इस प्रकार बतलाया है-

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्ममि जा य खलु चेद्वा ।

अणुगमणं पि गुरुणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥ १३६ ॥ पंचास्तिकाय ।

अनुवाद- “अरहंत, सिद्ध और साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म (व्यवहारचारित्र) में प्रवृत्ति और गुरुओं का अनुगमन (उनके अनुकूल चलना) प्रशस्तराग कहलाता है।

६. सम्यग्दृष्टि का प्रशस्तराग भी क्षायोपशमिकभाव

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने उक्त गाथा (१३६) की टीका में धर्म का अर्थ व्यवहारचारित्र का पालन बतलाया है- “धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधाना चेष्टा।” (पं. का/गा.१३६)। और अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों के प्रति भक्ति सरागसम्यक्त्व का अंग है, यह पूर्व में निर्दिष्ट किया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान के प्रवृत्तिपरक भाग तक होनेवाले सम्यक्त्व, संयमासंयाम (देशचारित्र) एवं संयम (महाव्रतादिरूप चारित्र) प्रशस्तराग हैं। अतः इन गुणस्थानों में होनेवाला प्रशस्तराग, सम्यग्दर्शनरूप प्रशस्तराग की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव है तथा चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव है।

स्व. पं. रतनचन्द्र जी मुख्तार ने भी लिखा है- “श्री कुंदकुंद आचार्य ने ‘पंचास्तिकाय’ की उपर्युक्त गाथाओं में पुण्यास्रव के तीन कारण बतलाये हैं- १. प्रशस्तराग, २. अनुकम्पा, ३. अकलुषता। तीनों ही सम्यग्दर्शन के गुण हैं। ‘प्रशस्तराग’ संवेग और भक्ति का नामान्तर है। ‘अकलुषता’ उपशम या प्रशम का पर्यायवाची है। सम्यग्दर्शन के आठ गुण इस प्रकार हैं- “संवेगो णिव्वेओ---।” (पं. रतनचन्द्र मुख्तार व्यक्तित्व एवं कृति./भा.२/पृ. १४८६)। यह गाथा पूर्व में उद्धृत है। मुख्तार जी इसी ग्रंथ के पृष्ठ १४८७ पर लिखते हैं- “पुण्यास्रव के कारणभूत प्रशस्तराग, अनुकम्पा और अकलुषता, ये सम्यग्दर्शन के गुण होने से मोक्षमार्ग में सहकारी कारण हैं।”

७. औपशमकादिभावों से निर्जरा, इसलिए शुभोपयोग से निर्जरा

आगम में कहा गया है कि औदयिकभाव बंध के कारण हैं और औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के। पारिणामिकभाव न बंध का कारण है, न मोक्ष का-

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।

भावो दु पारिणमिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥

(जयधवला / कसायपाहुड / भा.१ / पृ.५ पर उद्धृत)

यतः असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान के सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व के अंग एवं गुण औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव हैं तथा संयतासंयत, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक हैं और सभी प्रायः शुभोपयागात्मक हैं, (केवल ७वाँ कथंचित् शुद्धोपयोगात्मक है) तथा इनमें गुणश्रेणिनिर्जरा होती है, इससे सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग संवर और निर्जरा का कारण है। श्री वीरसेन स्वामी इसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मक्षय न हो, तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता- “सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।” (जयधवला / पु०१ / अनुच्छेद २ / पृ.५)। इन गुणस्थानों में मिथ्यात्वादि के अभाव से तन्निमित्तक कर्मप्रकृतियों का संवर भी होता है, अतः शुभोपयोग संवर का भी हेतु है।

८. संवरनिर्जरा का हेतुभूत शुभोपयोग आस्रव-बंध का भी हेतु

सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग क्षायोपशमिक भाव है। क्षायोपशमिकभाव कर्मविशेष के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाविक्षय (स्वमुख से उदय न होने), उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम (उदीरणा न होने) तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से निष्पन्न होता है। अतः उदयाभाविक्षय और उपशम से जो विशुद्धता (अकालुष्य) प्रकट होती है, उससे कर्मों का संवर और निर्जरा होती है तथा देशघाती प्रकृतियों के उदय से जो शुभ या अशुभ राग उत्पन्न होता है, उससे आस्रव-बंध होते हैं। इस प्रकार एक ही क्षायोपशमिकभावरूप शुभोपयोग से आस्रव-बंध, संवर और निर्जरा घटित होते हैं। सर्वार्थसिद्धि (९/३) में प्रश्न उठाया गया है कि तप रूप एक कारण से देवेन्द्रादि पद की प्राप्ति और कर्म-निर्जरा ये दोनों कार्य कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान करते हुए पूज्यपाद स्वामी कहते हैं- “जैसे अग्निरूप एक पदार्थ विकलेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य करता है, वैसे ही एक तप भी उपर्युक्त अनेक कार्य कर सकता है। देशघाती स्पर्धकों के उदय से असंयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों को औदयिकभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि देशघाती स्पर्धकों का उदय क्षयोपशम का ही अंग है। उसके बिना क्षयोपशम नाम ही उपपन्न नहीं होता। इन गुणस्थानों को ‘शुभोपयोग’ संज्ञा शुभोपयोग की बहुलता की अपेक्षा दी गई है, वैसे इनमें कदाचित् अशुभोपयोग भी होता है। (ता.वृ./प्र.सा./गा.३/४८)। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में आर्त्त-रौद्र ध्यानों को अशुभ कहा है-

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।

असुहं च अट्टरुहं, सुह धम्मं जिणवरिं देहिं ॥ ७६ ॥

और आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है कि आर्त्त-रौद्र ध्यान गृहस्थों के निरन्तर होते हैं और कभी-कभी मुनियों के भी होते हैं-

इत्यार्त्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि।

परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम् ॥ २६/४१ ॥

क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्तन्ते मुनेरपि।

प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥ २६/४२ ॥

पूज्यपाद स्वामी भी कहते हैं कि प्रमत्तसंयतों को निदानज ध्यान छोड़कर अन्य तीन ध्यान प्रमादोदय के उद्रेक (तीव्रता) से कदाचित् हो सकते हैं- “प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यम् अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित्

स्यात्।” (सर्वार्थसिद्धि ९/३४)। और आचार्य जयसेन ने प्रमाद को अशुभोपयोग बतलाया है- “मिथ्यात्वाविरतिप्रमादक-
षाययोगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः।” (तात्पर्यवृत्ति/प्रवचनसार/१/९)। प्रमाद के अशुभोपयोग होने
से ही उसके उदय में असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति, इन छह पाप प्रकृतियों
का बन्ध होता है। (धवला/ष.खं./पु.७/२, १, ७/पृ.११)।

इस प्रकार सिद्ध है कि शुभोपयोग केवल औदयिक भाव नहीं है, वह सरागसम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक,
क्षायिक और क्षायोपशमिक तथा संयमासंयम एवं संयम की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव भी है। उससे केवल
आस्रव-बन्ध नहीं होते, अपितु संवर और निर्जरा भी होती है।

९. मिथ्यादृष्टि के चित्तप्रसादरूप शुभोपयोग से गुणश्रेणिनिर्जरा

अनादि मिथ्यादृष्टि जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख होता है, तब उसे क्षयोपशम, विशुद्धि,
देशना, प्रायोग्य और करण, ये पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें प्रायोग्य एवं करण लब्धियाँ शुभपरिणाम
से ही प्राप्त होती हैं और अधःकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण ये तीन लब्धियाँ भी शुभपरिणाम
ही हैं। इनमें अन्तिम दो करणों से गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अनुभागखंडन ये चार
'आवश्यक' होते हैं (पं. र. च. मुख्तारः व्यक्ति. कृति. भा.२/पृ.१०८९)। करणलब्धिरूप शुभपरिणाम से ही
दर्शनमोहनीय के तीन खण्ड होते हैं और उन शुभपरिणामों के बल से ही एक खण्ड की मिथ्यात्व-शक्ति
आधी और दूसरे की कुछ अंश को छोड़कर लगभग पूरी निरुद्ध हो जाती है तथा वे क्रमशः 'सम्यग्मिथ्यात्व'
और 'सम्यक्त्व' प्रकृति कहलाने लगते हैं- “तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं ---” (सर्वार्थसिद्धि
/८/९)। इस तरह अनादि मिथ्यात्व की निवृत्ति मिथ्यादृष्टि के चित्तप्रसादरूप शुभोपयोग से ही होती है।
(त.रा.वा./९/१)। इतना ही नहीं, जिनबिम्ब के दर्शन से जो चित्तप्रसादरूप एवं वीतरागता तथा मोक्ष के
प्रति श्रद्धा-भक्तिरूप सम्यक्त्वसदृश प्रशस्तरागात्मक शुभपरिणाम होते हैं, उनके द्वारा अनादि मिथ्यादृष्टि के
निधत्ति और निकाचित कर्मों का भी क्षय हो जाता है और प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, जैसा
कि श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है- “कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं? जिणबिंबदंसणेण णिधत्त-
णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।” (धवला/ष.खं./पु.६/१,९-९,२३/पृ.४२७-४२८)।

आत्मा का चित्तप्रसादरूप (विशुद्धतारूप) परिणाम मोहनीय (दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय) के मन्दोदय
में होता है, तथापि मोहनीय के उदय से नहीं होता, अपितु उसके उदय में जो प्राबल्य होता है, उसके अभाव
से होता है। जैसे अधिक मैले वस्त्र को धोने पर उसका आधा मैल निकल जाता है और आधा लगा रहता
है, तो उसमें जो आधी उज्ज्वलता आती है, वह आधे मैल के लगे रहने से नहीं आती, बल्कि आधे मैल
के निकल जाने से आती है, वैसे ही आत्मा में अकालुष्यरूप चित्तप्रसाद कालुष्योत्पादक मोहनीय के उदय
से नहीं, अपितु उसके उदय का प्रभाव घटने से उत्पन्न होता है।

इन प्रमाणों के आधार पर आचार्य श्री विद्यासागर जी ने श्रुताराधना-शिविर में विद्वानों की शंकाओं का
समाधान करते हुए नवीन जैनाभासों की इस धारणा को मिथ्यात्व सिद्ध किया कि शुभोपयोग केवल औदयिक
भाव है, अतः उससे मात्र पुण्यप्रकृतियों के आस्रव और बन्ध होते हैं, पाप प्रकृतियों के संवर और निर्जरा नहीं।
आचार्यश्री ने अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया कि शुभोपयोग क्षायोपशमिक भी होता है, फलस्वरूप उससे आस्रव-
बन्ध के अलावा संवर-निर्जरा भी होती है। इस तरह वह मोक्ष का साधक है।

रतनचन्द्र जैन

चातुर्मास का नियम

स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार

बहुत प्राचीन काल से साधुजन वर्षाकाल में, जिसे चातुर्मास अथवा चौमासा कहते हैं, अपने विहार को रोककर एक स्थान पर ठहरते आए हैं और इसमें उन की प्रधान दृष्टि अहिंसा की रक्षा रही है। इस नियम का पालन केवल जैन साधु ही नहीं बल्कि हिन्दुधर्म के साधु भी किया करते थे। उनके शास्त्रों में भी इस विषय की स्पष्ट आज्ञाएँ पाई जाती हैं, जैसा कि अत्रि ऋषि के निम्न वाक्यों से प्रकट है-

‘वर्षाष्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते।
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन् भिक्षुश्चरेन्महीम् ॥’
असति प्रतिबन्धे तु मासान्वै वार्षिकानिह।
निवसामीति संकल्प्य मनसा बुद्धिपूर्वकम् ॥
प्रायेण प्रावृषि प्राणिसंकुलं वर्त्म दृश्यते।
आषाढ्यादिचातुर्मासं कार्तिक्यन्तं तु संवसेत् ॥

यतिधर्मसंग्रह

अर्थात् वर्षाकाल में भिक्षु को पुण्य जल से घिरे हुए किसी एक स्थान पर रहना चाहिये और सर्व प्राणियों आत्मवत् समझते हुए पृथिवी को देख शोध कर चलना चाहिये ॥ ‘कोई खास प्रतिबन्ध न होने पर वर्षा काल के महीनों में मैं यहाँ रहूँगा’ ऐसा उसे बुद्धिपूर्वक संकल्प करना चाहिये। वर्षाकाल में मार्ग प्रायः जीवजन्तुओं से घिरा रहता है, इससे आषाढी पौर्णमासी से कार्तिकी पौर्णमासी तक एक जगह ठहरे रहना चाहिये विहार अथवा पर्यटन नहीं करना चाहिये।

हाँ, बुद्धदेव ने शुरू-शुरू में अपने साधुओं के लिये चातुर्मास का कोई नियम नहीं किया था, उनके साधु वर्षाकाल में इधर उधर विचरते और विहार करते थे तब जैनों तथा हिन्दुओं की तरफ से उन पर आपत्ति की जाती थी और कहा जाता था कि ये कैसे अहिंसावादी साधु हैं जो ऐसी रक्त-मांस मय हुई मेदिनी पर विहार करते हैं और असंख्य जीवों को कुचलते हुए चले जाते हैं। इस पर बौद्ध साधुओं ने अपनी इस निन्दा और अवज्ञा को बुद्धदेव से निवेदन किया और उस वक्त से बुद्धदेव ने उन्हें भी चातुर्मास का नियम पालन करने की आज्ञा दे दी थी, ऐसा उल्लेख बौद्ध साहित्य में पाया जाता है। यह उल्लेख इस समय मेरे सामने नहीं परंतु इसका हाल मुझे विद्वद्वर पं. बेचर दासजी से मालूम हुआ है, जो प्राप्त होने पर प्रकट कर

दिया जायगा। अस्तु।

दिगम्बर सम्प्रदाय में इस वर्षाकालीन नियम की क्या मर्यादा है, इसका कुछ पता हाल में मुझे ‘भगवती आराधना’ की अपराजित सूरि विरचित ‘विजयोदया’ नाम की प्राचीन टीका के देखने से चला है। इस टीका में, भगवती-आराधना की ‘अच्चेलक्कुद्देसिय’ नाम की गाथा में वर्णित जैनमुनियों के दस स्थितिकल्पों का वर्णन करते हुए पज्यो (पर्या) नाम के दसवें स्थिति कल्प का स्वरूप इसप्रकार दिया है-

“पज्यो श्रमणकल्पो नाम दशमः वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेष्वेकत्रावस्थानं भ्रमणत्यागः स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिस्तदा भ्रमणे महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना एते वा (?) वाप्यादिषु स्थाणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यते, इति विंशत्यधिकं दिवसशतमेकत्रावस्थानमित्युत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वाऽवस्थानं। संयतानामाषाढशुद्धदशम्यां स्थितानामुपरिष्ठाच्च कार्तिकषौर्णमास्यास्त्रिंशद्विवासावस्थानं वृष्टिबहुलतां श्रुतग्रहणं शक्यभावं वैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्या दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं यांति, अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामति-क्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशमस्थितिकल्पः।”

अर्थात्- वर्षाकाल के चार महीनों में भ्रमणत्यागरूप जो एकत्र अवस्थान है वह पज्यो (पर्या) नाम का दसवाँ श्रमणकल्प है। उन दिनों में पृथिवी स्थावरजंगम जीवों से आकुलित होती है इससे उस समय भ्रमण करने में महान् असंयम होता है, वृष्टि तथा ठंडी हवा लगने से आत्मविराधना होती है और प्रच्छन्न स्थाणु-कंटकादि के द्वारा तथा जल और कर्दम से बाधा पहुँचती है, इसलिये एक सौ बीस दिन का यह एकत्र अवस्थानरूप उत्सर्ग काल का विधान है। कारण की अपेक्षा से हीनाधिक अवस्थान भी होता है। आषाढ सुदि दशमी को स्थिति होने वाले साधुओं का अधिक अवस्थान कार्तिकी पौर्णमासी से तीन दिन बाद तक होता है, यह अवस्थान वर्षा की अधिकता, श्रुतग्रहण, शक्ति के अभाव और वैयावृत्यकरण नाम के प्रयोजनों में से किसी प्रयोजनों को लेकर होता है और यह अवस्थान का उत्कृष्ट काल है। मरी पड़ने, दुर्भिक्ष फैलने, ग्राम तथा

नगर के चलायमान हाने अथवा गच्छनाश का निमित्त उपस्थित होने पर साधु जन यह समझ कर देशान्तर को चले जाते हैं कि वहाँ ठहरने से रत्नत्रयकी विराधना होगी। आषाढी पौर्णमासी के बीत जाने पर श्रावण की प्रतिपदा आदि तिथियों में बीस दिन तक जो अवस्थान हो वह सब हीन काल समझना चाहिए।

इस स्वरूप कथन पर से निम्न बातें फलित होती हैं-

१. चातुर्मास का यह नियम महाव्रती श्रमणों निर्ग्रथ साधुओं के लिये है, अणुव्रती श्रावकों अथवा ब्रह्मचारियों के लिये नहीं। चातुर्मास के जो हेतु 'महान् असंयम' तथा 'आत्मविराधना' आदि कहे गये हैं उन का भी सम्बन्ध श्रमणों से ही ठीक बैठता है।

२. चातुर्मास का उत्सर्ग (सर्वसाधारण) काल १२० दिन का है और वह आषाढी पौर्णमासी से कार्तिकी पौर्णमासी तक रहता है।

३. कुछ कारणों के वश अधिक तथा कमती दिनों का भी चौमासा होता है। अधिक दिनों वाले चौमासे का उत्कृष्ट काल आषाढ सुदि दशमी से प्रारंभ होकर कार्तिकी पौर्णमासी के बाद तीस दिन तक तीसवें दिन की समाप्ति तक है। और कमती दिनों वाले चौमासे का हीनकाल आषाढी पौर्णमासी के बाद श्रावण की प्रतिपदासे बीस दिन के भीतर किसी वक्त प्रारंभ होता है।

४. अधिक दिन के चौमासे के कारण ये हैं-१. वर्षा की अधिकता, २. श्रुतग्रहण (किसी खास शास्त्र के अध्ययन

की समाप्ति आदि का इष्ट होना), ३. शक्ति का अभाव (रोग आदि के कारण उस समय गमन की शक्ति न होना) और ४. वैयावृत्यकरण (दूसरे बीमार साधु की सेवा के लिये रुक जाना)। कमती दिन वाले चौमासे के कारण यद्यपि स्पष्टरूप से बतलाये नहीं गये परन्तु प्रकारान्तर से ये ही जान पड़ते हैं। इन कारणों से उस स्थान पर पहुँचने में कुछ विलम्ब का होना संभव है जहाँ चौमासा करना इष्ट हो।

५. चातुर्मास का नियम ग्रहण करने के बाद कुछ कारणों से साधु अन्यत्र भी जा सकते हैं अथवा उन्हें रत्नत्रय की रक्षा के लिये जाना चाहिये। वे कारण हैं- १. मरी पड़ना, २. दुर्भिक्ष फैलना, ३. ग्राम या नगर का चलायमान होना (भूकम्प, राष्ट्रभंग या राजकोपादि कारणों से जनता का नगर ग्राम को छोड़ छोड़ कर भागना) अथवा ४. अपने गच्छ के नाश का कोई निमित्त उपस्थित होना। और इसलिये चातुर्मास का नियम लेते समय साधु को यह स्पष्ट रूप से संकल्प कर लेना उचित मालूम होता है कि यदि ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा तो मैं इतने दिनों तक यहाँ निवास करूँगा। हिन्दुओं के यहाँ भी 'असति प्रतिबन्धे तु' शब्दों के द्वारा संकल्प में ऐसा ही विधान पाया जाता है। जैसा कि 'अत्रि' ऋषि के ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्य से प्रकट है।

'अनेकान्त (वर्ष १, किरण ६-७,
वैशाख ज्येष्ठ वि.स.१९८७)
से साभार'

सहायता स्वीकार

श्री अशोक कुमार जी द्वारा अपने पुत्र चि. अंशुल के शुभ विवाह अवसर पर ३५१/- सहर्ष 'जिनभाषित' को प्रदान किये गये। एतदर्थ धन्यवाद।

श्री विनोद कुमार जी, मदन लाल जी काला कलकत्ता द्वारा स्व. श्री मती गुणमाला देवी काला की पुण्य स्मृति में ५०१/- सहायता प्राप्त हुई। एतदर्थ धन्यवाद।

मोक्ष का काल नियत नहीं है

जो मोहरागदोसो णिहणदि उवलब्ध जोण्हमुवदेसं।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेन ॥

अर्थ- जो जिनोपदेश प्राप्त कर मोह, राग और द्वेष का विनाश करता है, वह शीघ्र ही समस्त दुखों से मोक्ष पा लेता है।

मूर्ति निर्माण की प्राचीन रीति

स्व. पं. मिलापचन्द्र जी कटारिया

आज कल हम देखते हैं कि जिस किसी बन्धु को जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा करानी होती है, वह यदि मूर्ति बड़े परिमाण की चाहता हो या और कोई विशेष प्रकार की चाहता हो और वैसी बनी बनाई तैयार मूर्ति कारीगरों के यहाँ नहीं मिलती हो तो प्रतिष्ठा से बहुत पहिले ही किसी कारीगर को साईं देकर वे कीमत तय करके उसका सौदा कर लिया जाता है और जो साधारण प्रतिमा की ही प्रतिष्ठा करानी होती है तो प्रतिष्ठा के आस-पास के वक्त में ही बनी बनाई मूर्ति किसी कारीगर से खरीद ली जाती है। जहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का महोत्सव होता है वहाँ भी तैयार मूर्तियाँ लेकर बेचने को कितने ही कारीगर लोग पहुँच जाते हैं। उनसे भी कितने ही जैनी भाई मूर्तियाँ खरीदकर प्रतिष्ठा करवा लेते हैं। आज कल सर्वत्र ऐसा ही आम रिवाज हो गया है। इस विषय में शास्त्रोक्त गार्ग क्या है उसे लोग भूल से गये हैं। आज से करीब सवासात सौ वर्ष पूर्व के बने पं. आशाधरजी के प्रतिष्ठा पाठ में इस विषय में जो कथन किया गया है उसको देखने से मालूम होता है कि आज की यह प्रथा पुराने जमाने में नहीं थी। इस विषय में जैसा कथन आशाधरजी ने किया है वैसा ही प्रायः वसुनन्दी ने भी स्वरचित प्रतिष्ठा सार संग्रह ग्रन्थ में किया है। यह प्रतिष्ठा पाठ अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है।

मूर्ति घड़ाने के लिये जंगल में जाकर खान से पाषाण कैसा हो और किस विधि से लाया जावे और कैसे कारीगर से मूर्ति घड़ाई जावे इत्यादि कथन जो इन प्रतिष्ठा ग्रन्थों में लिखा मिलता है उसकी जानकारी आधुनिक जैन समाज को नहीं के बराबर है। अतः मैं यहाँ उस प्रकरण को वसुनंदिकृत प्रतिष्ठा पाठ से लिखता हूँ। यह वर्णन उसके तीसरे परिच्छेद में है।

गृहे निष्पाद्यमाने च निष्पन्ने भावयिष्यति।

शिलां बिंबार्थमानेतुं गच्छेच्छिल्यि समन्वितः ॥ ६७ ॥

जिनमंदिर बन रहा हो उसके पूर्ण होने में अभी थोड़ा काम बाकी हो तब ही प्रतिमा बनाने के लिए पाषाण लेने को शिल्पी के साथ जावे।

कृत्वा महोत्सवं तत्र निमित्तान्य वलोक्य च।

यात्रानुकूल नक्षत्रे सुलग्ने शोभने दिने ॥ ६८ ॥

जाने से पहिले वहाँ उच्छव करे और शुभ निमित्तों को देखे। फिर उत्तम लग्न और शुभ दिन में अनुकूल नक्षत्र के होते यात्रा करे।

(आगे ७ श्लोक में यात्रा मुहूर्त सम्बन्धी ज्योतिष का विषय लिखा है। विस्तारभय से वह कथन यहाँ छोड़ा जाता है।)

गच्छत्वेवं प्रयत्नेन सम्यगन्वेषयेच्छिलां।

प्रसिद्धपुण्यदेशेषु नदी नगवनेषु च ॥ ७६ ॥

प्रसिद्ध पुण्य स्थानों, नदी, पर्वत, वनों में जाकर वहाँ यत्न के साथ अच्छी तरह से प्रतिमा बनाने योग्य पाषाण को ढूँढना चाहिए।

श्वेता रत्ताऽसिता पीता मिश्रा पारावतप्रभा।

मुद्गकापोतपद्माभा मंजिष्ठाहरिताप्रभा ॥ ७७ ॥

कठिना शीतला स्निग्धा, सुस्वादा सुस्वरा दृढा।

सुगंधात्यंततेजस्का मनोज्ञा चोत्तमा शिला ॥ ७८ ॥

वह शिला जिससे कि प्रतिमा बनाई जायेगी सफेद, लाल, काली, पीली, कर्बुरी, सलेटिया, मूंगिया, कबूतरिया, कमल जैसे रंग की, मंजीठ के रंग जैसी और हरे रंग की होनी चाहिए। और वह कठिन, ठण्डी, चिकनी, उत्तम स्वाद वाली, उत्तम आवाज की (झोजरी न हो) मजबूत, अच्छी गंधवाली, अत्यन्त चमकीली, मनोहर और उत्तम होनी चाहिए।

मद्वी विवर्णं दग्धा वा लघ्वी रूक्षा च धूमिला।

निःशब्दा बिंदुरेखादिदूर्धिता वर्जिता शिला ॥ ७९ ॥

जो कमल, कुवर्ण, जली हुई, हल्की, रूखी, धूमिल, बिना आवाज की और बिंदुरेखादि दोषोंवाली हो ऐसी शिला प्रतिमा बनाने के काम में नहीं लेनी चाहिए।

परीक्ष्यैवं शिलां सम्यक् तत्र कृत्वा महोत्सवम्।

पूजां विद्या। शस्त्राग्रं हूं कारेणाभि मंत्रयेत् ॥ ८० ॥

परीक्षा से उत्तम शिला मिल जाय तो खान में से उस शिला को काटने के पहिले वहाँ भलीप्रकार उच्छव के साथ पूजा विधान करके जिस शस्त्र से शिला को काटनी हो उस शस्त्र के अग्रभाग को 'ओम् हूं फट् स्वाहा' इस मंत्र से मंत्रित कर लेवें।

शिलां विभिद्य शस्त्रेण पुनर्गन्धादिभिर्यजेत्।

प्रदोषसमये कृत्वागंधैर्हस्तानूलेपनम् ॥ ८१ ॥

फिर उस शस्त्र के द्वारा शिला को काटकर उसकी गंधादि से पूजा करें। तत्पश्चात् रात्रि के पूर्व भाग में गंध द्रव्यों का हाथों में लेपन करके

सिद्धभक्तिं विधाया दौ मंत्रं मनसि संस्मरेत्।

ओम् नमोऽस्तु जिनेन्द्राय ओम् प्रज्ञाश्रवणे नमः ॥ ८२ ॥

नमः केवलिने तुभ्यं नमोऽस्तु परिमेष्ठिने।

स्वप्ने मे देवि विद्यांगे ब्रूहि कार्यं शुभाशुभम् ॥ ८३ ॥

अनेन दिव्यमंत्रेण सम्यग्ज्ञात्वा शुभाशुभम्।

प्रातस्तत्र पूनर्गत्वा पूजयेत्तां शिलां ततः ॥ ८४ ॥

और प्रथम ही सिद्धभक्ति का पाठ करके आगे के मंत्र का मन में स्मरण करें। 'ओम् नमोऽस्तु जिनेन्द्राय, ओम् प्रज्ञाश्रवणे नमः। नमः केवलिने तुभ्यं, नमोऽस्तु परिमेष्ठिने ॥ स्वप्ने मे देवि! विद्यांगे!, ब्रूहि कार्यं शुभाशुभं'। इसका स्मरण करते हुये सो जावे। इस दिव्यमंत्र से स्वप्न में अच्छी तरह शुभाशुभ जानकर यदि कार्य शुभ दीखे तो प्रभात ही फिर वहाँ जाकर उस शिला की पूजा करे।

यथा कोटिशिला पूर्व चालिता सर्वविष्णुभिः।

चालयामि तथोत्तिष्ठ शीघ्रं चल महाशिले ॥ ८५ ॥

सप्ताभिमंत्रिता कृत्वा मंत्रेणानेन तां शिलाम्।

पीडार्थं प्रतिमार्थं वा रथमारोपयेत्ततः ॥ ८६ ॥

“यथा कोटिशिला।...” यह पूरा श्लोक ही मंत्र है। इस मंत्र से उक्त शिला को ७ बार मंत्रित किये बाद बैठक सहित प्रतिमा को बनाने के लिये उस शिला को रथ में रखकर ले चले।

एवमानीय तां सम्यक् त्रिः परीत्य जिनालयम्।

कृत्वा महोत्सवं तत्र सुदिने संप्रवेशयत् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार उस शिला को अच्छी तरह लाकर किसी शुभ दिन में उच्छ्रव करके और जिनालय की तीन प्रदक्षिणा देकर जिनमंदिर में ले जावे।

वहीं शिल्पी को बुलकार उससे उस शिला की मूर्ति बड़ाई जावे। इस सम्बन्ध में आशाधरकृत प्रतिष्ठा पाठ में इस प्रकार लिखा है-

सुलग्ने शांतिकं कृत्वा सत्कृत्य वरशिल्पिनम्।

तां निर्मापयितुं जैनं बिंबं तस्मै समर्पयेत् ॥ ६१ ॥

सदृष्टिर्वास्तु शास्त्रज्ञो मद्यादि विरतः शुचिः।

पूर्णांगो निपुणः शिल्पी जिनार्चायां क्षमादिमान् ॥ ६२ ॥

(अध्याय १)

अर्थ- शांति विधान करके शुभ मुहूर्त में जिनबिंब बनाने के लिये किसी अच्छे कारीगर को सत्कारपूर्वक वह शिला सुपर्द कर देवे। वह कारीगर तेज नजर का, वास्तु शास्त्र का ज्ञाता, मद्यादिका त्यागी, पवित्र, पूर्णांगी, शिल्पकाम में निपुण और क्षमादि का धारी, अक्रूर परिणामी होना चाहिये। ऐसा शिल्पी जिनबिंब बनाने के योग्य होता है।

पाठक देखेंगे कि जिनप्रतिमा बनाने के कहाँ तो पूर्व काल के विधि-विधान और कहाँ आज की प्रथा, दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। प्रतिमा निर्माणार्थ पाषाण लाने की विधि तो दूर रही आजकल तो इतना भी विचार नहीं किया जाता कि जिस मूर्ति को हम प्रतिष्ठार्थ ले रहे हैं उसका घड़ने वाला शिल्पी कहीं मद्यमांसाहारी तो नहीं है? बस बाजार बिकती चीज खरीद की और प्रतिष्ठा में रख दी ऐसी मूर्तियों में चमत्कारों की आशा करना मृगमरीचिका है। पाषाण को भगवान् बनाना कोई बच्चों का खेल नहीं है। पूर्वकाल में भगवान् की मूर्ति घड़ने वाले सलावट भी ऐसे विचारवान् होते थे कि वे अपना खानपान शुद्ध रखते थे और पवित्र रहते थे और हम परमेश्वर की मूर्ति घड़ने वाले हैं इस बात से अपने आप में गौरव का अनुभव करते थे। इसी से आशाधारजी ने आकर-शुद्धि का वर्णन करते हुए जन्मकल्याणक में भगवान् का प्रथम धूली कलशाभिषेक सूत्रधार (शिल्पी) के हाथ से कराना लिखा है। ऐसे शिल्पियों का सन्मान भी उस जमाने में खूब किया जाता था। उनके सन्मान का उल्लेख भी आशाधरजी ने उक्त कलशाभिषेक के कथन में किया है। इन्होंने ही प्रतिष्ठाविधि में गर्भकल्याणक के प्रसंग में एक और उल्लेख किया है-

सार्वर्तुकानि वरवस्त्रफलप्रसून

शय्यासनाशनविलेपन मंडनानि।

तत्तस्क्रियोपकरणानि तथेप्सितानि

तीर्थेशमातुरुपदी कुरुतां धनेशः ॥ २० ॥

(अध्याय ४)

ओम् निधीश्वर जिनेश्वरमात्रे भोगोपभोगान्युपनयो-पनयेति स्वाहा। चारुवस्त्र मुद्रिकाहार फल पत्रपुष्पादिकं पीठाग्रे प्रतिष्ठयेत्। तच्च सर्वं विश्वकर्मा गृहीयात्।

अर्थ- सब ऋतुओं के उत्तम वस्त्र, फल, पुष्प, शय्या, आसन, भोजन, विलेपन, मंडन तथा और भी उन-उन क्रियाओं की साधक इच्छित सामग्री को कुबेर जिनमाता

को भेंट करें।

सुन्दर वस्त्र, अंगूठी, हार, फल, पत्र पुष्पादि भेंट की सामग्री को 'ओम निधीश्वर' आदि ऊपर लिखे मंत्र को बोलते हुए भद्रासन के आगे रखें। उस सब सामग्री को शिल्पी ग्रहण करे। आजकल इनमें से वस्त्र, शय्या, आसन आदि चीजों को कोई-कोई प्रतिष्ठाचार्य पण्डित ले लेते हैं या यह सामग्री मेला कराने वाली पंचायत या यजमान के अधिकार में रह जाती है। पहिले इसके लेने का नियोग शिल्पी का था जैसा कि आशाधर जी ने कहा है।

गर्भावतार की विधि में शिल्पी सम्बन्धी एक और उल्लेख आशाधरजी ने निम्न प्रकार किया है-

“तामेव रहसि पुरानिरूपितप्रतिष्ठेयामर्हप्रतिमां नूतनसितसद्वस्त्रप्रच्छादितां पुरश्चरतटकिकाकरविश्वकर्मा सौधर्मन्द्रो महोत्सवेनानीय सुविशुद्धभद्रासनगर्भपद्मे निवेशयेत्।”

जिसके आगे टांकी हाथ में लेकर प्रतिमा घड़नेवाला शिल्पी चल रहा है ऐसा सौधर्मन्द्र पूर्व कथित उसी प्रतिष्ठेय जिनप्रतिमा को नये सफेद उत्तम वस्त्र से ढककर और महोत्सव के साथ लाकर पवित्र भद्रासन पर कमल के मध्य

में एकांत में स्थापन कर दे।*

इन उद्धरणों से सहज ही जाना जा सकता है कि प्राचीन काल में भगवान् की प्रतिमा बाजारु खरीद बेच की चीज नहीं थी जिस शिला से वह बनाई जाती थी वह भी खान से बड़े विधि-विधान से लाई जाकर मंदिर में रक्खी जाती थी और वहीं पर सलावट आकर उसे बनाता था। बनाने वाला शिल्पी भी शुद्ध आचार-विचार का धारी होता था और वह समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। यहाँ तक कि प्रतिष्ठा की विधियों में भी उसे साथ रखा जाता था और प्रतिष्ठोपयोगी कितने ही बहुमूल्य पदार्थों की प्राप्ति के अधिकार भी उसे मिले हुए थे जिससे वह मालोमाल हो जाता था। इसके अतिरिक्त और भी पुरस्कार उसे यजमान द्वारा मिला करते थे।

जिस मूर्ति को माध्यम बनाकर हम अपने आराध्य देव की आराधना करके अपना कल्याण करते हैं- इहलोक परलोक सुधारते हैं उस मूर्ति को बाजारु चीज बना देने से क्या उसका गौरव रहेगा, यह प्रश्न काफी गम्भीर और विचारणीय है।

* आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के साथी विद्वद्वर पं. त्रयमल्लजी कृत 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार' के पृष्ठ १०२-१०३ पर भी मूर्ति निर्माण के विषय में इसप्रकार वर्णन है -

'आगे प्रतिमा का निर्माण के अर्थ खान जाय पाषाण लावे ताका स्वरूप कहिये हैं- सो वह गृहस्थी महा उछाव सू खान जावे खान की पूजा करे। पीछे खान को न्योत आवे अरु कारीगर ने मेल आवे सो वह कारीगर ब्रह्मचर्य अंगीकार करे, अल्प भोजन ले, उज्वल वस्त्र पहिरे, शिल्पशास्त्र का ज्ञानी घना विनय सू टांकी करि पाषाण की धीरे-धीरे कोर काटे।

पीछे वह गृहस्थ गृहस्थाचार्य सहित और घना जैनी लोग, क्रुदम्ब परिवार के लोग गाजा-बाजा बजाते मंगल गावते जिनगुण के श्रोत पढ़ते महा उत्सव सू खान जाय। पीछे फेरि बांका पूजन कर बना चाम का संजोग करि महामनोज्ञ रूपा सोना के काम का महा पवित्र मन कू रंजायमान करने वाला रथ विषे कोमली रूई का पहला में लपेट पाषाण रथ में धरे। पीछे पूर्ववत् महा उत्सव सू जिन मंदिर आवे।

पीछे एकांत स्थानक विषे घना विनय सहित शिल्पशास्त्रानुसार प्रतिमाजी का निर्माण करे ता विषे अनेक प्रकार गुण-दोष लिख्या

है सो सर्व दोषों ने छोड़ सम्पूर्ण गुण सहित यथाजात स्वरूप निपुणता दोय चार पांच सात वर्ष में होय, एक तरफ तो जिन मंदिर की पूर्णता होय और एक तरफ प्रतिमाजी अवतार धरे।

पीछे घने गृहस्थाचार्य पंडित अरु देश-देश का धर्मी ताकू प्रतिष्ठा का मुहुर्त ऊपर कागज दें दे घना हेत सू बुलावे। सर्व संघ को नित प्रति भोजन होय और सर्व दुःखित को जिमावे, कोई जीव विमुख न होय रात्रि दिवस ही प्रसन्न रहे।

पीछे भला दिन भला मुहुर्त विषे शास्त्रानुसार प्रतिष्ठा होय। घनो दान बटे इत्यादि घनी महिमा होय। ऐसी प्रतिष्ठी प्रतिमाजी पूजना योग्य है। बिना प्रतिष्ठी पूजना योग्य नहीं।'

सारे देश में प्रतिवर्ष कितनी ही पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें होती हैं और उनमें १०-२० नहीं किंतु सैकड़ों की संख्या में जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा होती है। लेकिन ये मूर्तियाँ शास्त्रोक्त विधि से निर्मित कलापूर्ण एवं मनोज्ञ हैं या नहीं इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने मूर्ति निर्माण की शास्त्रोक्त विधि पर विशद प्रकाश डाला है उस पर मूर्ति प्रतिष्ठापकों एवं प्रतिष्ठाचार्यों का ध्यान जाना आवश्यक है।

'जैन निबन्ध रत्नावली (द्वितीय भाग) से साभार'

सल्लेखना आत्महत्या नहीं है

प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

अभी पिछले दिनों राजस्थान में एक व्रती जैन महिला ने सल्लेखनापूर्वक अपना व्याधिग्रस्त शरीर का अंत किया। इस घटना ने एक संवैधानिक प्रश्न खड़ा कर दिया-- क्या इस प्रकार की इच्छा मृत्यु को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता है? तथ्य यह है कि जैन परम्परा की सही जानकारी न होने के कारण इस प्रकार का प्रश्न उठाया जा रहा है। उसके अनुसार सल्लेखनापूर्वक मरण का वरण करना आत्महत्या नहीं है। इसे समझने के लिए हम निम्न शीर्षकों के माध्यम से विचार करेंगे--

सल्लेखना का स्वरूप

सल्लेखना या संथारा साधक श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वी ग्रहण किया करते हैं। साधक की यह तृतीय अवस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह विषय वासनाओं से अनासक्त होकर शरीर को भी बंधन मानने लगता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समन्वित आचरण से उसका मन संसार से विरक्त हो जाता है। उस स्थिति में यदि शरीर और इंद्रियाँ अपना काम करना बंद कर देती हैं तो सम्यक् आचरण में बाधा उत्पन्न होती है और पराधीनता बढ़ती चली जाती है। इसलिए उससे मुक्त होने के लिए साधु अथवा श्रावक सल्लेखना या समाधिमरण धारण करता है। इसी को संथारा कहा जाता है (महापुराण, ३९, १४९, चारित्रसार ४१.२) इस व्रत में निरासक्त होकर आमरण आहार, जलादिक का पूर्णतः त्याग कर दिया जाता है और धर्मारधना पूर्वक शरीर त्याग करने का संकल्प ग्रहण कर लिया जाता है।

सल्लेखना का तात्पर्य है--सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृष करना, कम करना (लेखन)--सम्यक् काय कषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहायनक्रमेणसम्यक् लेखना सल्लेखना (सर्वार्थसिद्धि, ७.२२; चारित्रसार, पृ.२३; सागारधर्माभूत, १.१२; श्रावक प्रज्ञप्ति ३७८ आदि)। यह व्रत विशेषतः उस समय लिया जाता है जबकि साधक के ऊपर कोई तीव्र उपसर्ग या आपत्ति आ गई हो अथवा दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था और रोग के कारण आचार-प्रक्रिया में बाधा आ रही हो। ऐसी परिस्थिति में यही श्रेयस्कर है कि साधक अपने धर्म की रक्षा के लिए विधिपूर्वक शरीर को छोड़ दे। यहाँ आंतरिक विकारों का विसर्जन करना साधक का प्रमुख उद्देश्य रहता है--

उपसर्गो दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचन आहुः सल्लेखनामार्याः ॥

--रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५.१

सल्लेखना आत्महत्या नहीं है

इस प्रकार के शरीर त्याग में साधक पर आत्महत्या का दोष नहीं लगाया जा सकता क्योंकि आत्महत्या करने वाला किसी भौतिक पदार्थ की अतृप्त वासना से ग्रस्त रहता है। जबकि सल्लेखना व्रतधारी श्रावक अथवा साधु के मन में इसप्रकार का कोई सांसारिक वासनात्मक भाव नहीं रहता बल्कि वह शरीरादि की असमर्थता के कारण दैनिक कर्तव्यों में संभावित दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। वह ऐसे समय निःकषाय होकर परिवार और परिचित व्यक्तियों से क्षमायाचना करता है और मृत्युपर्यन्त महाव्रतों को धारण करने का संकल्प ले लेता है। तदर्थ सर्वप्रथम आत्मचिन्तन करता है और उसके बाद क्रमशः खाद्य और पेय पदार्थ छोड़कर उपवासपूर्वक देहत्याग करता है। वह वीतराग हो जाता है। उसके मन में न शरीर के प्रति राग रहता है और न सांसारिक भोगों की कोई आकांक्षा शेष रहती है। अतः उस पर आत्महत्या का कोई दोष लगाने का प्रश्न ही नहीं उठता (स.सि., ७.२२; राजवार्तिक, ७.२२ आदि)।

वस्तुतः आत्महत्या और सल्लेखना में अंतर समझ लेना आवश्यक है। आत्महत्या की पृष्ठभूमि में कोई अतृप्त वासना काम करती है। आत्महत्या करने वाला अथवा किसी भौतिक सामग्री को प्राप्त करने के लिए अनशन करने वाला व्यक्ति विकार भावों से जकड़ा रहता है। उसका मन क्रोधादि भावों से आप्त रहता है जबकि सल्लेखना करने वाले के मन में किसी प्रकार की वासना और उत्तेजना नहीं रहती। उसका मन इहलौकिक साधनों की प्राप्ति से हटकर पारलौकिक सुखों की प्राप्ति की ओर सतत लगा रहता है। भावों की निर्मलता उसका साधन है। तज्जीवत्तच्छरीरवाद से हटकर शरीर और आत्मा की पृथकता पर विचार करते हुए शारीरिक परतंत्रता से मुक्त होना उसका साध्य है। विवेक उसकी आधार शिला है। अतः आत्महत्या को सल्लेखना किसी भी दृष्टि से पर्यायार्थक नहीं कहा जा सकता है। जैन परम्परा में मरण के प्रकारों में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। आर्त-रौद्र ध्यान पूर्वक ही आत्महत्या होती है, जबकि सल्लेखना में

धर्मध्यान की पृष्ठभूमि सदैव बनी रहती है।

सल्लेखना की परम्परा

सल्लेखना चूंकि जैनधर्म का आध्यात्मिक और पारमार्थिक सिद्धांत है, सहस्रों वर्ष पुराना है। तीर्थंकर ऋषभदेव से ही यह परम्परा चली आ रही है। ऐतिहासिक काल की ओर भी यदि हम झांके तो पार्श्वनाथ और महावीर ने भी इसी सल्लेखना के माध्यम से अपना शरीर छोड़ा था। सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य ने श्रवणबेलगोला में सल्लेखना व्रत पूर्वक मरण का वरण किया था। सैकड़ों शिलालेख इस तथ्य के प्रमाण हैं कि जैनाचार्य अंतिम समय में सल्लेखना पूर्वक ही मरण करते हैं। ये सभी शिलालेख प्रकाशित भी हो चुके हैं। साहित्यिक प्रमाणों के साथ पुरातात्विक प्रमाण भी इसके साक्षी हैं। ऐसी स्थिति में इस परम्परा को कैसे झुठलाया जा सकता है।

आचार्य शांतिसागर जी ने १८ सितंबर १९५५ में यमसल्लेखना पूर्वक कुन्थलगिरि (महाराष्ट्र) में समाधिमरण किया था। इसे मृत्यु महोत्सव भी कहा जाता है। आचार्य विनोबा भावे ने भी सल्लेखना धारणा की थी। आज भी यह परम्परा जीवित है। इस परम्परा पर आत्महत्या का दोष लगाना नितांत अज्ञानता है। जैन साहित्य में मरण के प्रकारों पर सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वहाँ शस्त्र अथवा विषादिक के माध्यम से किये गये मरण को च्यावित मरण कहा गया है। यही आज आत्महत्या के नाम से जाना जाता है। इसे उचित नहीं माना गया है। समाधिमरण द्वारा किया गया मरण त्यक्त मरण कहा जाता है। इस त्यक्त मरण को आध्यात्मिक मरण माना जाता है जो सही है।

आत्महत्या की परम्परा

आत्महत्या को अंग्रेजों में स्युसाइड कहा जाता है जो पूर्णतः असंवैधानिक और अनुचित है। आज भारत में प्रतिदिन लगभग ३०० आत्महत्याओं की घटनाएँ हो रही हैं। वेबसाइड में उसे लाभप्रद कहा गया है जिसकी समग्र निंदा की जानी चाहिए। मीना कुमारी जैसे अनेक गणमान्य व्यक्तियों ने इसी आत्महत्या का सहारा लेकर अपने अन्तिम जीवन के दुःखों से मुक्ति ली है। कर्ज, प्रेम, कलह, संपत्ति, अनुत्तीर्णता आदि जैसे कारणों से होने वाली आत्महत्याओं की रिपोर्ट आये दिन आती ही रहती है। इन रिपोर्टों की पृष्ठभूमि से सल्लेखना और आत्महत्या के बीच का अन्तर बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

विदेशों में भी आत्महत्याएँ कम नहीं हुई हैं। हिटलर

ने रूस के हाथों पहुँचने के भय से गोली मारकर आत्महत्या कर ली थी। लार्ड क्लाइव ने चाकू से अपना गला काटकर आत्महत्या का उदाहरण पेश किया था। सिलविया प्लाथ ने अपना सिर गैस ओवन में डालकर आत्महत्या की, अन्ने सेक्सटन ने अपनी कार को बंदकर विष खाकर आत्महत्या की। इस तरह के सैकड़ों उदाहरण हमारे सामने हैं।

हमारे यहाँ भी ऐसे ही उदाहरण कम नहीं हैं। दहेज, लड़की का होना, बलात्कार, कैन्सर जैसी बीमारियाँ, पति-पत्नी में कलह, असफलता आदि अनेक कारण हैं जिनसे आत्महत्या की घटनाएँ बढ़ती चली जा रही हैं। ऐसी वितृष्णा से उत्पन्न आत्महत्या की सल्लेखना जैसे आध्यात्मिक मरण के साथ तुलना कैसे की जा सकती है?

कीट्स, कोलरिज, शैली, वर्ड्सवर्थ, स्टीवेंसन, चार्ल्स, लेंब, कालिदास, भवभूति, पुष्पदन्त-भूतबलि आदि जैसे हजारों साहित्यकारों ने आत्महत्या जैसे घिनौने कृत्य से दूर रहकर अपनी लेखनी के माध्यम से अमरता प्राप्त की है। होमर, मिल्टन, सूरदास ने अंधे होने पर भी दुनियाँ को बहुत कुछ दिया है। निराशा से दूर रहकर पुरुषार्थवृत्ति अपनाकर सकारात्मक सोच से जीवन को जिया जाना चाहिए। संघर्ष ही जीवन की कहानी है। उसे आत्महत्या जैसे घृणित कृत्य से समाप्त नहीं करना चाहिए।

आत्महत्या को अंग्रेजी में यूथान्सिया (Euthanasia) भी कहा गया है। इसे Slippery slope कहकर भी पुकारा जाता है जहाँ चिकित्सक की सहायता से मृत्यु पायी जाती है। अरिष्टोटल, प्लेटो, डिस्हानर आदि दार्शनिकों ने इसप्रकार की मृत्यु की घनघोर निन्दा की है। नियाप्लाटोनिस्टो, अगस्तायन, एक्विनस, डेविडह्यूम, धुरखेम, फूड आदि विचारकों ने भी उसका विरोध किया। मर्सी किलिंग पर लोगों को दण्डित भी किया गया। नीदरलैंड में कुछ शर्तों के साथ आत्महत्या का अधिकार अवश्य दिया गया बाकी अमेरिका, भारत आदि देशों में इसे अभी अपराध की सीमा में ही रखा गया है। किसी धर्म ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है।

मरण के प्रकार

जैन साहित्य में मरण के तीन प्रकारों का वर्णन मिलता है- वहाँ १) स्वाभाविक साधारण मरण को च्युत, २) शस्त्रादि द्वारा मरण को च्यावित और, ३) समाधिमरण द्वारा प्राप्त मरण को त्यक्त कहा जाता है। त्यक्त के तीन प्रकार हैं- (१) भक्त प्रत्याख्यान (आहारादि त्यागने के बाद शरीर की

परिचर्या स्वयं करना) (२) इंगिनीमरण (नियत देश में ही शरीर की परिचर्या स्वयं करना) और (३) प्रायोपगमन मरण (शरीर की परिचर्या से मुक्त रहकर मात्र आत्मध्यान में लीन हो जाना)। आचार्य शिवार्य ने मरण के पाँच भेद बताये हैं- बालमरण, बाल-बाल मरण, पण्डितमरण, पण्डित-पण्डितमरण और बाल पण्डितमरण। पण्डित-पण्डित मरण की सल्लेखना जैन-संस्कृति की विशिष्ट देन है। जैनेतर संस्कृति में ऐसा प्रावधान देखने को नहीं मिलता। वैदिक संस्कृति में प्रायोपवेशन, प्रायोपगमन जैसे कतिपय शब्द अवश्य मिलते हैं पर उनमें वह विशुद्धता नहीं दिखाई देती जो सल्लेखना में होती है। यह न आत्महत्या (Suicide) का रूप है और न इसे Euthanasia या Mercy Killing का ही रूप कह सकते हैं। ऐसे मरण आध्यात्म दृष्टि शून्य होते हैं। मात्र असक्ति का संभार ही उन्हें कहा जा सकता है।

जैनेतर दर्शनों में सल्लेखना की अवधारणा

मृत्यु तीन प्रकार की हो सकती है- शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक मृत्यु को ही जैनेधर्म में सल्लेखना कहा गया है। आत्म साक्षात्कार के माध्यम से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक मृत्यु को स्वीकार किया गया है। वैदिक, जैन, बौद्ध, चीनी, तिब्बती और जापानी पूर्वीय दर्शनों में उसका मूल उद्देश्य आत्मानुभूति या आत्मज्ञान प्राप्त करना रहा है और पाश्चात्य दर्शनों में आत्मा से मुक्ति प्राप्त करना अथवा पुनर्जन्म प्राप्त करना रहा है।

सल्लेखना जैसा कोई शब्द वैदिक संस्कृति में नहीं है। पर नचिकेता और यम तथा अर्जुन और कृष्ण के बीच हुए वार्तालाप से आत्मसमर्पण रूप भक्तियोग का रूप सामने अवश्य आता है। उपनिषद साहित्य में संसार (जन्म-मरण) विज्ञान का विकास हुआ है और अविद्या रूप कर्म के विनाश से मुक्ति प्राप्त की जाती है समाधि के माध्यम से। इससे अधिक कुछ नहीं मिलता। मृत्यु के बाद ही क्रियाकाण्ड व्यवस्था में मंत्रपूर्वक गंगाजल छिड़कना आदि कार्य इसकी परिधि के बाहर हैं।

बौद्धधर्म में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का मार्ग विपश्यना साधना है। किसी गोतमी और सिद्धार्थ को मृत्यु-दर्शन देकर ही जाग्रत किया गया था। बुद्ध ने चार आर्य सत्यों के माध्यम से अनात्मवाद सिद्धांत की प्रतिष्ठा कर मृत्यु को जीतने का पथ प्रशस्त किया है। मृत्यु के समय बौद्ध सूत्रों का पाठ किया जाता है और बाद में परित्राणकर

साधुओं का आहार दान भी दिया जाता है। इस समय चीनी, तिब्बती और जैन, बौद्धधर्म में भी लगभग यही रूप मिलता है।

मेसापोटामियां और मिस्र संस्कृति में मृत्यु के बाद ईश्वर रूप न्यायाधीश के सामने अपना पूरा लेखा-जैखा देना पड़ता है। हेब्रिक संस्कृति में मृत्यु की विशेष अवधारणा नहीं है क्योंकि वहाँ शरीर और आत्मा वापिस यथास्थान चले जाते हैं। उसे ईश्वर की सृष्टि का स्वाभाविक एक पवित्र भाग माना जाता है पर है वह पाप का फल। उसे मसीहा के सामने जाना पड़ता है।

क्रिश्चनिटी में आत्मा का पुनर्जन्म कुछ दूसरे रूप में है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उसमें पुनर्जन्म होता है जिसे Resurrection कहा जाता है। मरने के बाद आत्मा को स्वर्ग, नरक या विशुद्धि के लिए भेज दिया जाता है। मृत्यु के समय ईश्वर की प्रार्थना ही सबसे बड़ी शरण है।

इस्लाम में अल्ला को ही एक मात्र ईश्वर माना गया है। मृत्यु के समय प्रार्थना की जाती है कि वह उसके सामने खड़ा रहे। वह अल्लाह से क्षमा याचना करता है और उससे पवित्र होने की प्रार्थना करता है और फिर अल्लाह में समाविष्ट हो जाता है। पुनर्जन्म यहाँ नहीं है। मरते समय कुराण का पाठ सुनता/पढ़ता है और पापों से मुक्त करने की प्रार्थना करता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो मृत्यु के समय सभी धर्मों में अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति व्यक्त की जाती है स्तवन या सूत्रपाठ करके और कृत कार्यों का प्रायश्चित्त कर निरासक्ति पूर्वक जीवन का अन्तिम समय निकाला जाता है। इस प्रक्रिया में जैनधर्म की सल्लेखना का जो गहरा रूप हमारे सामने रहता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।

Euthanasia और सल्लेखना (Spiritual death)

Euthanasia का अर्थ है Good death या dying well इसे Psysician-assisted suicide कहा जाता है विदेशों में व्यक्ति एक लम्बी असहनीय बीमारी से जब तंग हो जाता है तो वह चिकित्सक की सहायता से मृत्यु पाकर उससे मुक्त हो जाना चाहता है। इसे Slippery slope भी कहा जाता है। यह एक प्रकार से आत्महत्या ही है जो सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से अनुचित और कानून के विरुद्ध है। जीवन का यद्यपि यह एक स्वाभाविक परिणाम है पर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में क्या दूसरे के माध्यम से

भी इस परिणाम को प्राप्त किया जा सकता है? यह एक यक्ष प्रश्न है जिसपर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और न्यायाधीश समुदाय में मतभेद खड़ा हुआ है।

आदिवासी जातियों में मृत्यु को स्वाभाविक न मानकर उसे शत्रु या भूत पिशाचों द्वारा दिया गया अपघात माना जाता है। पर पूर्व और पाश्चात्य परम्परा में उसे स्वाभाविक ही कहा जाता है। ग्रीक दार्शनिकों ने तो मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है या नहीं, इस विषय पर भी काफी विचार किया है। Euthanasia शब्द ग्रीक eu से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है well और thanatos का तात्पर्य है मृत्यु। यदि शारीरिक और मानसिक बीमारी से रोगी अधिक परेशान हो जाता है तो वह न्यायालय में मृत्यु पाने के लिए निवेदन करता है। यदि न्यायालय उसे स्वीकार करता है तो न्यायाधीश रोगी को विष पिलाने स्वयं आता है।

अरिष्टोटल, प्लेटो और डिस्थानर ने आत्महत्या की निंदा की है और स्वाभाविक मृत्यु को ही सही स्वीकार किया है। कदाचित् Sophocles पहला दार्शनिक है जिसने आत्महत्या को उचित माना है। रोम में उसे Summum Bonum माना जाता रहा, यदि उसका कारण बीमारी, उन्माद या अपमान हो। पर उसे सैनिकों, अपराधियों और दासों के लिए निषिद्ध माना है। लगभग तीसरी शती में ईसाई मत से प्रभावित नियोप्लाटोनिस्टो ने इसका विरोध किया और उसे ईश्वर द्वारा प्रदत्त परिणाम माना। अगस्तायन ने पाँचवी शती में इसे छठे कमांडमेंट "Thou shalt not kill!" का विरोधक माना। तेरहवीं शती में Aquinas ने इसका और भी समर्थन यह कहकर किया कि आत्महत्या करने वाला पश्चाताप (Repentance) से वंचित रह जाता है और स्वाभाविक मृत्यु से भी गलत आत्महत्या का विचार है। उन्होंने Summa theologica में आत्महत्या को पाप और कानून विरुद्ध कहा है। Renaissance ने यद्यपि इस परम्परा के विरोध में कुछ नहीं कहा पर उस पर पुनर्विचार करने का वातावरण अवश्य बनाया। फलतः Thomas More Litopia ने १५१६ में और F.Bacon ने New Atlantis में १९२६ में आत्महत्या के पक्ष में अपने तर्क दिये उसे सही बता दिया। परंतु १७५७ में David Hume ने उन तर्कों का उत्तर देकर आत्महत्या को पुनः स्वीकार कर दिया।

१९वीं शती में आत्महत्या पर वैज्ञानिक आधार से विचार किया जाने लगा। १८९७ में Durkheim ने उसे सामाजिक अपराध कहकर उसके तीन कारण बताये-

अहंकार, परोपकारिता और अपमान। Freud ने इसे भावात्मक उद्वेलन का कारण माना और स्वयं भी उसका शिकार हुआ ओहियो में १९०६ में अमेरिका ने आत्महत्या के पक्ष में बिल पास कराना चाहा पर वह गिरा गया। १९३५ में ब्रिटेन में भी ऐसी ही बिल लाया गया पर उसे मंजूरी नहीं मिल सकी Johnson और Repouille को क्रमशः उनकी पत्नी और पुत्र को Mercy Killing करने पर दंडित भी किया गया। हिटलर ने तो उसमें एक नया मोड़ ही ला दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में लगभग एक लाख लोगों को जातीय शुद्धिकरण के नाम पर नपुंसक बना दिया गया। जर्मनी ने लेथल गैस के माध्यम से १९३९ में अपघातियों को मृत्यु के घाट उतार दिया। १९४१ में तो अन्ततः उसके पक्ष में कानून भी बन गया। यह वस्तुतः एक प्रकार से सामूहिक वध ही था। इसे Euthanasia नहीं कहा जा सकता।

ब्रिटेन में Euthanasia Society की स्थापना हुई और Euthanasia के पक्ष में पुनः वातावरण बनाया गया। १९५० से १९६९ तक लगातार ब्रिटेन और अमेरिका में इसके पक्ष में अनेक बार बिल रखे गये पर वे पास नहीं हो सके। Fleteher ने Euthanasia के पक्ष में जबर्दस्त तर्क प्रस्तुत किये। उसने Murder को Malice aforethought कहा और Euthanasia को Mercy aforethought कहकर उसे उचित ठहराया। जनमत कराकर भी इस पक्ष को मजबूत कराया गया केनेडा, ब्रिटेन और अमरीका में। इसके बाद Death with dignity wills भी लाये गये पर Living will को कानूनी नहीं बनाया जा सका। अंत में १९७६ में केलिफोर्निया, अमरीका में Right-to-die statute पास हो सका। नीदरलैण्ड आदि देशों ने भी इस पर विचार किया और Dutch Medical Council voluntary euthanasia को स्वीकृत किया। फिर भी विवाद शांत नहीं हुआ। १९८० में Derek Humphry ने Hemlock society बनाई, Let me die before I wake पुस्तक लिखी और Euthanasia Research of Guidance Organization Group तैयार किया। The world federation of right-to-die Societies भी बनाई गई पर उसे पूरी तरह कानूनी नहीं बनाया जा सका। १९८४ में नीदरलैण्ड ने कुछ शर्तों के आधार पर उसे अन्ततः स्वीकार कर लिया।

अमरीका में इसे कानूनी जामा पहनाने का बड़ा प्रयत्न हुआ पर सफलता नहीं मिल सकी। १९७० में सुप्रीम कोर्ट ने Right to refuse medical treatment constitution पास

किया। Dr. Jack Kevorkian के अथक प्रयत्न से The Oregon death with dignity act पास हुआ १९९४ में पर उसे १९९७ में रद्द कर दिया गया और Physician-assisted suicide को गैर कानूनी माना गया। आज भी उसे पूरी तरह वैधानिक रूप नहीं मिल सका। ब्रिटेन में फरवरी १४, २००३ को षड्वर्षीय cloned sheep dolly को फेफड़ों में खराबी आ जाने के कारण euthanized death से समाप्त कर दिया गया। इसका तात्पर्य यही है कि अब असहनीय और ला-इलाज हो जाने पर करुणा के आधार पर प्राणी को मृत्यु का वरण कराया जा सकता है। महात्मा गाँधी ने भी एक बछड़े को इसी आधार पर मारने की आज्ञा दी थी जिसकी काफी आलोचना की गई थी।

आत्महत्या (Suicide) को वैधानिक स्वीकृति न मिलने की पृष्ठभूमि में मूल भावना यह है कि व्यक्ति का समाज के प्रति एक विशिष्ट कर्तव्य हुआ करता है जो आत्महत्या से पतित हो जाता है। व्यक्ति पर समाज का अधिकार होता है। वह व्यक्ति को मारने में सहयोग नहीं दे सकती। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में आत्महत्या को ईश्वर के विपरीत माना गया। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे स्वीकारा जा सकता है पर वैधानिकता नहीं दी जा सकती। इनके अतिरिक्त आत्म स्वातन्त्र्य, कारुणिक मृत्यु, चिकित्सक की सहायता से प्राप्त मृत्यु आदि तर्कों ने भी जीवन की गुणवत्ता को कम नहीं किया। उसे अपराध की

श्रेणी से मुक्त नहीं किया जा सका। नैतिकता की दृष्टि से भी इसे उचित नहीं कहा जा सका। ईसाई, इस्लाम, वैदिक, जैन, बौद्ध आदि कोई भी धर्म आत्महत्या की स्वीकृति नहीं देता।

भारतीय संविधान में भी आत्महत्या को किसी भी स्थिति में वैधानिक नहीं माना गया। उसका Article २१ और Section ३०९ स्पष्ट रूप से आत्महत्या को गैरकानूनी मानता है।

इसके बावजूद सती प्रथा शदियों से प्रचलित रही ही है। वैदिक धर्म यद्यपि आत्महत्या के पक्ष में नहीं है फिर भी जहाँ कहीं वह उदारता के पक्ष में भी दिखाई देता है। जैनधर्म में इस उदारता को सल्लेखना का रूप दिया गया है। शारीरिक अक्षमता और रोग की गंभीरता जब गहरी हो जाती है तो पूर्ण निरासक्त होकर, अहिंसक भाव से धार्मिक आराधना करते हुए व्यक्ति को जीवन-मुक्त होने को वैधानिक मानता है जैन धर्म। संविधान में भी इस प्रकार की धार्मिक मृत्यु को असंवैधानिक नहीं बताया गया।

इस प्रकार सल्लेखना या समाधिमरण को किसी भी स्थिति में आत्महत्या के समकक्ष नहीं बैठाया जा सकता है। यह तो एक धार्मिक मृत्यु है, वीतरागता पूर्वक मृत्यु की स्वीकृति है। उसमें आत्महत्या का अंश भी नहीं आता।

कस्तूरबा वाचनालय के पास,
सदर, नागपुर - ४४०००१ (महाराष्ट्र)

डॉ. श्रेयांस जैन 'दीक्षा स्वर्ण जयन्ती पुरस्कार' से पुरस्कृत

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्र परिषद के लोकप्रिय यशस्वी अध्यक्ष, व्याख्यान वाचस्पति, सिद्धान्तवेत्ता, वाणीभूषण विद्वान् डॉ. पं. श्रेयांस कुमार जैन बड़ौत को उनकी गहन, अविरल, सैद्धान्तिक तत्त्वव्याख्या ओजस्वी प्रभावक, हृदयस्पर्शी सरल शैली एवं सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति अनन्य अगाध श्रद्धा को दृष्टिगत करते हुए पौराणिक, ऐतिहासिक, त्रय तीर्थकरों के कल्याणकों से समन्वित धर्मप्राण पुण्य धरा सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र हस्तिनापुर जम्बूद्वीप के पावन प्रांगण में श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा श्री तेरहद्वीप जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के पावन प्रसंग पर 'गणिनी प्रमुख आर्यिका ज्ञानमती दीक्षा स्वर्ण जयन्ती पुरस्कार' से सम्मानित किया गया, जिसका भव्य कार्यक्रम आस्था चैनल से सीधा प्रसारण भी हुआ। साल, श्रीफल, अंग वस्त्र, प्रतीक चिन्ह, राशि आदि उपकरण भेंट किये गये। विद्वान् महोदय की स्वाध्याय शीलता, तत्त्व प्रतिपादन की प्रभावना परक शैली युवा सरस्वती उपासकों के लिये प्रेरणाप्रद है। इस अवसर पर डॉ. साहब की अगाध श्रुतसेवार्थ उनकी कलम की गतिशीलता बनी रहे। ऐसी भावना के साथ सपरिवार जीवन की मंगल कामना की गयी। 'जैनम जयतु शासनम्'

द्वारा- सिंघई अरिहंत जैन
मोरेना

सल्लेखना : देहविसर्जन की वैज्ञानिक प्रक्रिया

ब्र. पुष्पा जैन

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में कहा है-

उपसर्गो दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

अर्थात् प्रतिकाररहित उपसर्ग के आने पर, दुर्भिक्ष के पड़ने पर, बुढ़ापा के आने पर और असाध्य बीमारी के आने पर धर्म की रक्षा के लिये देह के विसर्जन को सल्लेखना कहा है ।

देह का सृजन और विसर्जन एक कार्मिक घटना है । सृजन के समय आहार वर्गणाओं का सहयोग जिस क्रम से होता है, ठीक इससे विपरीत क्रम देह विसर्जन के समय होता है । सामान्य जीव इसे नहीं जान पाते हैं, फलतः अपने अज्ञान और मोह के कारण देह से राग बढ़ाते हैं और सल्लेखना का विचार नहीं बना पाते । जिसतरह कोई शिशु जब माँ के गर्भ में होता है, तब वह नाल के द्वारा माँ के पाचन तन्त्र से रसाहार प्राप्त करता है । वह पतला अर्थात् पेयरूप में होता है । जन्म के बाद माँ के दूध का पान करता है, वह भी पेय रूप में ही । छह माह का होते-होते दाल का पानी या पतली चाँटने योग्य खीर लेने लगता है । आज की मातायें सैरलक आदि का उपयोग कर रही हैं, जिसे हम लेहा कहते हैं । परिवार में यह ज्ञान परम्परा से प्राप्त होता रहता है । पूरा परिवार अनेक प्रकार के व्यंजनों का सेवन करता है और शिशु सिर्फ लेह्य और पेय आहार ही ग्रहण करता है । क्या इसे दुर्व्यवहार कहा जायेगा? नहीं! यह तो समझदारी का कार्य माना जावेगा, क्योंकि पचाने की योग्यता के अनुसार ही तो आहार कराया जायेगा, अन्यथा बीमारी का शिकार हो जायेगा । बड़े लोग मलाई खाते हैं और शिशु को पानी मिला दूध पिलाते हैं, यह स्वस्थ रहने का सिस्टम है, जिसे सारी उम्र ध्यान में रखना पड़ता है । शिशु जब दो वर्ष से अधिक का हो जाता है, तब उसे हलका सुपाच्य खाद्य आहार देना शुरू करते हैं, जिससे उसकी देह का उचित संपोषण होता है । शुद्ध निर्दोष पेय, लेह्य, खाद्य पदार्थों का सेवन करते-करते कभी-कभी वह स्वाद्य आहार भी लेता है, जो उसकी पाचन क्रिया में सहायक होता है, जैसे सौंफ, अजवायन, लोंग, इलायची आदि । धीरे-धीरे वह चारों प्रकार का आहार लेने का ज्ञान और पचाने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । मन, वचन, काय के द्वारा किया गया श्रम पाचनक्षमता को और

बढ़ा देता है । जिन व्यक्तियों में इन तीनों का संतुलन बिगड़ जाता है, उनकी पाचन शक्ति क्षीण होने लगती है । वृद्धावस्था आने तक देह इतनी कमजोर हो जाती है कि उसके दाँत, आँत, लीवर, प्लीहा, किडनी, हार्ट, फेंफड़े, हड्डियाँ, नसें इत्यादि सहित सम्पूर्ण पाचनतन्त्र ही कमजोर हो जाता है । ऐसी स्थिति में नितप्रति हल्का, सुपाच्य आहार लेने का क्रम बन पड़ता है । इसतरह शुरू होता है देहविसर्जन का क्रम । जिनको यह ज्ञान हो जाता है, वे अपनी साधना को दृढ़ करते हुये शरीर के साथ-साथ कषायों को भी कृश करना शुरू कर देते हैं । वे मानते हैं कि जब देह ने पदार्थों से, आत्मा से सम्बन्ध विसर्जन शुरू कर दिया है, तब हमें भी उन पदार्थों से, उस देह से ममत्व विसर्जन शुरू कर देना चाहिये । जब सृजन के समय आहार कम रहता है तथा कषायें भी कम रहती हैं, तब यह विसर्जन का समय है, आहार तो स्वतः कम होता जा रहा है । अतः हमें कषाय, राग-द्वेष, ईर्ष्या, तृष्णा, भोगाकांक्षा और देह का, परिवार का ममत्व भी कम कर देना चाहिये । जब आहार को पचाने की क्षमता घट रही है, तो गरिष्ठ, इष्ट, भारी, तले पदार्थों से मोह छोड़ते हुये, क्रमशः खाद्य, स्वाद्य, लेह्य को भी कम करते हुये पेय पर आना चाहिये । फिर उसकी भी इच्छा जब न हो, तो उसका भी अर्थात् जल का भी त्याग कर देना चाहिए । (विशेष जानकारी के लिये देखें, 'भगवती आराधना') ।

कषायों का त्याग, देह त्याग से भी कठिन होता है । इसके लिये गुरुसान्निध्य की आवश्यकता होती है, क्योंकि अनादिकालीन संस्कार अकेले से नहीं छूटते । शास्त्रों में कहा है -

'दुर्लभो विषयत्यागः दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।

दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरोः करुणां बिना ॥'

अर्थात् गुरु की करुणा के बिना विषयों का त्याग, तत्त्व का दर्शन और सहज समाधि दुर्लभ होती है । इसलिये साधक विधिपूर्वक योग्यगुरु से समय आने पर सल्लेखना व्रत लेते हैं । गुरु उन पर करुणा करते हैं और उन्हें व्रत देकर क्षपक बनाते हैं और वे स्वतः हो जाते हैं निर्यापकाचार्य । वह क्षपक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादिभावकर्म और शरीर आदि नोकर्मों के चक्रव्यूह से मुक्त होने का पुरुषार्थ करता है, जिसमें गुरु पल-पल सहायक होते हैं । आगम में तो एक क्षपक की सल्लेखना में आचार्यसहित 48 मुनियों द्वारा

वैयावृत्य करने का उल्लेख है। जिस समय क्षपक में भोजन-संयम की भावना शिथिल होती नजर आती है, तब उनका ध्यान क्षपक की कषायों को शिथिल कराने की ओर जाता है और उस विचलित क्षपक को उपदेश देकर, अनेक प्रकार के व्यंजनों को थाली में दिखाकर उससे कहते हैं कि जितना बने, उतना ग्रहण कर लो, ये श्रावक देने को तैयार हैं और यदि ग्रहण की योग्यता न हो, तो त्याग करने का साहस करो। अनेक जन्मों में कितना भोजन किया है, किन्तु आज तक तृप्ति नहीं हुई। किन्तु जब पदार्थ सामने रखे हैं, खाने

की इच्छा होते हुये, खाये नहीं जा रहे हैं, तब उस इच्छा को त्यागकर आत्मसंतोष को क्यों उपलब्ध नहीं करते? अपने लिये हुये व्रत को पालकर स्वर्गादि सुख को प्राप्त कर सकते हो, तो व्रत को भंग कर दुर्गति का पात्र क्यों बनते हो? यदि जबरदस्ती कुछ खा भी लो, तो अंत समय में कॉमा में चले जाओगे, बेहोश हो जाओगे, भगवान् का नाम भी न ले सकोगे, जो तुम्हें संसारसमुद्र से पार लगानेवाला है। अतः सल्लेखना देहविसर्जन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है, आत्महत्या नहीं।

रहली, सागर (म.प्र.)

भोपाल की केन्द्रीय जेल में उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज का उद्बोधन

परमपूज्य सराकोद्धारक उपाध्यायरत्न श्री ज्ञानसागर जी महाराज का २८ मई २००७ को भोपाल की केन्द्रीय जेल में मंगल प्रवचन हुआ। लगभग एक किलोमीटर पहले ही जेल के कैदियों के बैण्ड ने उपाध्यायश्री की अगवानी की तथा गेट पर जेल अधिकारियों ने पाद प्रक्षालन किया। उपाध्यायश्री ने जेल में चल रहीं योजनाओं का अवलोकन किया। मुख्य अतिथि आईजी श्री पवन जैन एवं जेल अधीक्षक श्री पुरूषोत्तम सोमकुंवर थे।

पूज्य उपाध्यायश्री ने केन्द्रीय जेल में उपस्थित हजारों कैदियों को संबोधित करते हुए कहा कि जीवन में की गई एक भूल हमें अपने परिवार से दूर कर देती है। किसी व्यक्ति के जेल में रहने पर उसके परिवार पर क्या बीतती है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्होंने कहा कि कैदियों को जेल जीवन के दौरान अपने इष्ट का स्मरण करना चाहिए। जेल से बाहर आने के बाद हमसे पुनः कोई अपराध न हो।

उपाध्यायश्री ने भोपाल जेल के माहौल की तारीफ करते हुए कहा कि यहाँ के अधिकारियों ने कैदियों को पारिवारिक माहौल दिया है। उन्होंने कहा कि भोपाल जेल को यदि व्यसनमुक्त जेल बना सकें तो अच्छा रहेगा। जेल में रहने वाला कोई भी व्यक्ति शराब, सिगरेट, बीड़ी, तंबाखू का सेवन न करें तो उनके जीवन में आध्यात्मिक बदलाव आ सकता है।

मुख्य अतिथि आईजी श्री पवन जैन ने कहा कि इतिहास गवाह है कि जिसने भी अभिमान किया है, उसका नाम नहीं हुआ है लेकिन जो धर्म की शरण में आता है वह अमर हो जाता है।

जेल अधीक्षक पुरूषोत्तम सोमकुंवर ने उपाध्यायश्री के प्रवचन के बाद सभी का आभार व्यक्त करते हुए उपाध्यायश्री के जेल में आने के उपलक्ष्य में सभी सजाहाफता कैदियों की पांच दिन की सजा माफ करने की घोषणा भी की। कार्यक्रम में ब्र. अनिता दीदी ने उपाध्यायश्री के व्यक्तित्व के बारे में प्रकाश डाला। कमल हाथीशाह ने संचालन किया। उपाध्यायश्री ने भोपाल जेल में आहार-चर्या की।

सुनील जैन संचय शास्त्री

हमारे संस्थान के एक ट्रस्टी श्री सुधीर कुमार जैन, अम्बाला छावनी निवासी (मो. ९३१५६०१६८९) एवं श्रीमति उर्वशी जैन, जो कि पिछले आठ वर्षों से दो प्रतिमाधारी हैं उनकी सुपुत्री कु. रुचिका जैन ने वर्ष २००६ की भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा (आई.ए.एस) में अपने प्रथम प्रयास में ११२वाँ स्थान प्राप्त कर पूरे जैन समाज का नाम भारतवर्ष में रोशन किया है। कु. रुचिका जैन एक सर्वगुण सम्पन्न बालिका है जिसने पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़ से वर्ष २००६ में ही बी.ई. बॉयोटेक की परीक्षा में चतुर्थ स्थान प्राप्त किया।

राजेन्द्र जैन, मुख्य ट्रस्टी

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान मानित विश्वविद्यालय नई दिल्ली द्वारा २६ दिस. से २९. दिस. २००६ तक पुरी (उड़ीसा) में आयोजित "अखिल भारत शास्त्रीय संस्कृत भाषण स्पर्धा" में सोनल कुमार जैन ने साहित्य शास्त्र में स्वर्ण पदक प्राप्त किया।

श्री सुमत चन्द्र जैन, दिगौड़ा, जिला- टीकमगढ़ (म.प्र.)

श्रमण के मूलगुणों का नैतिक सामाजिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

भारतीय संस्कृति में जैन और बौद्ध साधुओं की श्रमण संज्ञा है। प्रकृत में दिगंबर मुनि के पर्यायवाचक के रूप में श्रमण शब्द ग्राह्य है जिसकी व्युत्पत्ति “श्राम्यति मोक्षमार्गे श्रमं विदधातीति श्रमणः” है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मोक्षमार्ग में श्रम करता है, वह श्रमण कहलाता है। आचार्य कुंदकुंद इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं-

समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद समो।

समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ३/४९

प्रवचनसार

जो शत्रु और बंधु वर्ग में समता बुद्धि रखते हैं, सुख दुःख प्रशंसा और निंदा में समान हैं। पत्थर के ठेले और सुवर्ण में जिनकी समान बुद्धि है तथा जीवन और मरण में जिनकी समान बुद्धि है तथा जीवन और मरण में जिनके समता भाव है ऐसे मुनि ही श्रमण कहलाते हैं।

श्रमण ही कर्म बंध से छुटकारा पाता है। दुःखों की निवृत्ति भी उसी की होती है इसीलिए कहा भी गया है “तात्पर्य यह है कि मुनिपद निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण किये बिना यह जीव सांसारिक दुःखों से निवृत्त नहीं हो सकता है श्रमण मुनि का भाव या कर्म श्रामण्य है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में युगपत् प्रवर्तता है, वह एकाग्रता को प्राप्त है, ऐसा माना गया है और उसी का श्रामण्य मुनिपना पूर्णता को प्राप्त होता है।^२ जो अन्य द्रव्य को प्राप्तकर मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, वह अज्ञानी है और प्रकार के कर्मों से बंध को प्राप्त होता है^३ किंतु जो बाह्य पदार्थों में न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है वह श्रमण विविध कर्मों का क्षय करता है।^४ ये श्रमण शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार के होते हैं^५। उनमें शुद्धोपयोगी श्रमण आस्रव से रहित होते हैं और शुभोपयोगी आस्रव सहित होते हैं। दोनों ही श्रमण मोक्ष के अधिकारी हैं। इनमें बुद्धिपूर्वक मूलगुणों की परिपालना ही चारित्र को धारण करना है। चारित्र के माध्यम से ही कर्मबंध को नष्ट करने का पुरुषार्थ चलता है और इसी के द्वारा यथाख्यात चारित्रसहित स्वरूप प्रगट होता है। इसके प्रकटीकरण में मूलगुणों की मुख्य भूमिका होती है। अतः इन्हीं का नैतिक सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने का प्रयास है-

मुख्य गुणों को मूलगुण कहते हैं, जिसप्रकार मूल जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरता, उसीप्रकार मूलगुणों के बिना श्रमण के व्रत नहीं ठहरते। अब श्रमण के मूलगुणों पर विचार किया जा रहा है-

आचार्य कुंदकुंद मूलगुणों को बतलाते हुए लिखते हैं-

वदसमिदिंदियारोधो लोचावस्सयमचेलमणहणं।

खिदिसयणमदंतधोवणं ठिदिमोयणमेगभत्तं च ॥ २०८ ॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णात्ता ॥ २०९ ॥

प्रवचनसार

अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का रोध, षड् आवश्यक, केश लोंच, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े खड़े भोजन, एक बार आहार ये वास्तव में श्रमणों के २८ मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं।

इनके पृथक-पृथक स्वरूप को जानकर वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता और साधकों द्वारा पालन विधि भी जानना आवश्यक है एतदर्थ प्रत्येक मूलगुणों का लक्षण बतलाते हुए उसकी वर्तमान पालन व्यवस्था पर भी विचार प्रस्तुत है-

अहिंसा महाव्रत- प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणियों के इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राणों का घात नहीं करना अर्थात् सभी प्राणियों पर दया भाव रखना अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रत- प्रमादवश राग, द्वेष, मोह, चुगली, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि दोषों से भरे हुए असत्य भाषण का तथा जिस सत्य भाषण से प्राणियों को पीड़ा पहुँचे ऐसे भाषण का त्याग करना सत्य महाव्रत है।

अचौर्य महाव्रत- प्रमादवश किसी भी स्थान पर पड़े हुए, भूले हुए, रखे हुए द्रव्य को तथा पुस्तक, उपकरण एवं शिष्य आदि पर द्रव्यों को बिना दिए ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत- मनुष्यिनी, तिर्यची और देवांगनाओं में तथा उनके चित्र एवं काष्ठ पाषाण आदि की मूर्ति में राग परिणामों का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

अपरिग्रह महाव्रत- क्षेत्र, वास्तु आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं नौ-

२ कषाय इन चौदह प्रकार के आभ्यंतर परिग्रह में तथा संयम, ज्ञान, शौच के साधनभूत उपकरण पीछी कमण्डलु शास्त्र आदि में ममत्व नहीं रखना अपरिग्रह महाव्रत है।

पाँचों महाव्रतों को पूर्ण सावधानी से पालने वाले साधक निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग को प्रशस्त करते हैं और कर भी रहें हैं। प्रायः साधुओं द्वारा इनका सम्यक्रीति से पालन किया जाता है किंतु कुछ साधु आजकल इनके पालन करने में भी प्रमाद कर रहे हैं। रात्रि के कार्यक्रमों में सम्मिलित होकर मंदिर, आश्रम, मठ आदि निर्माण में भूमि के खनन आदि करने/कराने और अनुमोदन कर जीवों की विराधना के दोष से दूषित होते हुए अहिंसा महाव्रत की उपेक्षा हो रही है। श्रावकों से अधिक संबंध और वार्तालाप करने के कारण सत्य व्रत के पालन में दोष लगाया जा रहा है। दूसरे संघ के साधु को उनके गुरु की आज्ञा के बिना अपने संघ में रखकर और शिष्य बनाकर चौर्य कर्म जैसे दोष से दूषित हो रहे हैं। गृहस्थों के आवासों में ठहरकर महिलाओं से वार्ता आदि प्रसंगों के कारण ब्रह्मचर्य व्रत में भी दोष लगाया जा रहा है। उन्हें परिग्रह पिशाच ने अपने घेरे में घेर लिया है, जिसमें महाव्रतों की मर्यादाओं का उल्लंघन किया जा रहा है। महाव्रती अपने साथ मोटर गाड़ी, मोबाइल, टेप, घड़ी, सोने चांदी आदि की मालाएं नहीं रखते हैं जब उनके परमाणु मात्र परिग्रह का निषेध किया है^६ और संपूर्ण पदार्थों में मूर्च्छाभाव का त्याग बताया है^७ तो वे ऐसी वस्तुएँ अपने पास कैसे रख सकते हैं जिनसे विषय वासनाओं की वृद्धि हो। जैनाचार्यों ने कहा है कि परिग्रह की चाह सतत् अतृप्त रखती है। यदि किसी प्रकार इच्छित परिग्रह जुड़ भी जाता है तो भी उससे तृप्ति नहीं होती है उसके प्राप्त होने से लोभ की वृद्धि ही होती है। परिग्रह के प्रति लोभ से प्रेरित हो साधु विविध प्रकार के निर्माण कार्यों में संलग्न होता है। धीरे-धीरे वह स्वयं उसका संचालक और सूत्रधार बन जाता है इससे उसकी निर्दोष-निरतिचार चर्या में बाधा उपस्थित होने लगती है। इस परिग्रह की चाह ने ही तो कुछेक मुनियों को महानगरों में या परिग्रहधारी गृहस्थों के बीच में रहने को बाध्य कर दिया है। परिग्रह ही ऐसा पाप है जिसके कारण हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्म से बचना बहुत कठिन है नैतिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक दृष्टियों से महाव्रतों को निर्दोष पालना उचित ही नहीं अपितु अनिवार्य है। अतः आज आवश्यकता है कि साधु संघों में रहें और गृहस्थों से यथासंभव दूरी भी

रखें तभी श्रमण धर्म निराबाध गति से बढ़ता हुआ धर्मप्रभावना का प्रबल निमित्त हो सकता है।

शरीर को नियंत्रित रखने के लिए आचार्यों ने समितियों को विधिवत् पालन करने को कहा है। इनके बिना साधुता नहीं है। अतः इनका स्वरूप जानकर अवश्य ही पालन करना चाहिए। ये ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना के भेद से समितियाँ पाँच प्रकार की हैं। शास्त्राध्ययन, तीर्थ यात्रा, गुरुवन्दना आदि धार्मिक कार्यों के लिए तथा आहार नीहार आदि के लिए सूर्योदय के बाद चित्त की एकाग्रता पूर्वक चार हस्त प्रमाण जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है। पैशून्य, हास्य, कर्कश, युद्धप्रवर्धक, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोरकथा, राजकथा तथा अन्य भी राग द्वेषोत्पादक भाषा का त्याग कर हित मित प्रिय भाषा बोलना भाषासमिति है। असातावेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उत्पन्न होने वाली क्षुधा को शान्त करने हेतु तथा वैय्यावृत्त्यादि के लिए नव कोटियों से निर्दोष ४६ दोष रहित आहार ग्रहण करना एषणासमिति है। पीछी, शास्त्र, कमण्डलु, रखते उठाते समय प्रत्यन पूर्वक प्रवृत्ति आदाननिक्षेपणसमिति है। जहाँ असंयमीजनों के आवागमन से रहित एकान्त स्थान हो, जो वनस्पतिकायिक एवं इन्द्रियादि जीवों से रहित हो वहाँ मलमूत्रादि का क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है।

वर्तमान में समितियों के पालन की भी उपेक्षा हो रही है जो नैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक तीनों दृष्टियों से उचित नहीं है क्योंकि समितियों के पालन में यदि साधु शिथिलता बर्तते हैं तो उनके द्वारा हिंसा अवश्य होगी। प्रमाद के कारण ही समितियाँ सम्यक् प्रकार से नहीं पाली जाती हैं जबकि इनका नैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। श्रमण का जीवरक्षा प्रथम कर्तव्य होता है अगर देखकर चलेगा और प्रमाद नहीं करेगा तो ही हिंसादि दोषों से बचेगा। भाषासमिति में हित मित प्रिय संभाषण के द्वारा साधु नैतिक के साथ सामाजिक व्यवस्था में सहयोगी बनता है। उनके वचनों से प्रत्येक व्यक्ति सदाचार में प्रवृत्ति कर सकता है। साधु के हित मित प्रिय वचन जीव मात्र के उपकारी होते हैं। प्रतिष्ठापन समिति का पालन नैतिक और सामाजिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही साथ में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी इसका कम महत्त्व नहीं है क्योंकि साधु के द्वारा प्रतिष्ठापन समिति के पालन द्वारा जीवों की रक्षा तो होती ही है और प्रदूषण से बचाव

होता है। वातावरण में निर्मलता रहती है। पाँचों समितियाँ पाँचों महाव्रतों के साथ पलती हैं और समिति तथा महाव्रतों का पालन तीनों दृष्टियों से श्रेष्ठ है।

चेतन अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए मृदु, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, हल्के, भारी, ठण्डे और उष्ण स्पर्श में आनन्द एवं खेद नहीं करना स्पर्शनेन्द्रियनिरोध मूलगुण है। आहार ग्रहण काल में राग द्वेष नहीं करना रसनेन्द्रिय निरोध है। सुगन्ध में राग और दुर्गन्ध में द्वेष नहीं करना घ्राणेन्द्रिय निरोध मूलगुण है। सचित्त और अचित्त पदार्थों के तथा घट पटादि के वर्ण संस्थान आदि को देखकर उनमें रागद्वेष नहीं करना चक्षु इन्द्रियनिरोध नामक मूलगुण है। चेतन अचेतन पदार्थों के प्रिय अप्रिय शब्दों को सुनकर रागद्वेष आदि नहीं करना कर्णेन्द्रिय निरोध मूलगुण है।

पंचेन्द्रिय निरोध का भी नैतिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक महत्त्व है। इन्द्रियों के नियन्त्रित होने के कारण श्रमण विषय वासना से दूर रहता है। विषय वासना से दूर रहने का सामाजिक प्रभाव पड़ता है। जिस श्रमण का चरित्र निर्मल होता है विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती है उसका बहुमान रहता है किन्तु जो इन्द्रिय वासनाओं में लिप्त होता है या जिसकी प्रवृत्ति अब्रह्म रूप होती है उसकी लोकनिन्दा होती है समाज उसका बहुमान नहीं करती है साथ में उसके साथ निन्द्य व्यवहार भी होता है। वैज्ञानिकदृष्टि से भी इन्द्रिय निरोध का प्रभाव होता है जिस साधक की साधना उत्तम होती है इन्द्रियाँ वश में होती हैं पूर्णब्रह्मचर्य का पालन होता है उसके शरीर की दिव्य आभा जग को आकृष्ट करने वाली होती है साथ में चेहरे की दीप्ति के साथ प्रज्ञा भी प्रखर रहती है। व्यक्तित्व ज्योतिर्मय बन जाता है। अतः ये मूलगुण तीनों दृष्टियों से श्रेष्ठ हैं।

श्रमण के षड् आवश्यक मूलगुण में गर्भित इसलिए किए गये हैं क्योंकि इनके बिना श्रमणपना ही नहीं रह सकता है। आधि व्याधि (मानसिक और शारीरिक पीड़ा) से ग्रस्त हो जाने पर भी इन्द्रियों के वशीभूत न होकर जो दिन रात के आवश्यक श्रमणों को करने ही चाहिए उन्हीं कार्यों को आवश्यक कहते हैं। ये आवश्यक श्रमणों कर्म सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कार्योंत्सर्ग छह हैं।

जीवन-मरण, लाभ-अलाभ आदि में समान परिणाम होना सामायिक मूलगुण है। स्तवन शुद्धता पूर्वक तीर्थकरों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव मूलगुण है। चौबीस

तीर्थकरों में से किसी भी एक पूज्य आत्मा का मन, वचन, काय की शुद्धि एवं कृतिकर्म पूर्वक स्तुति तथा नमस्कार वन्दना नामक मूलगुण है। अपने दोष को शोधना तथा प्रगट करना प्रत्याख्यानमूलगुण है। एक नियत काल के लिए निश्चित आसन से ध्यान करना और देह ममत्व को छोड़कर स्थित रहना कायोत्सर्ग नामक मूल गुण है।

इन षडावश्यक रूप मूलगुणों के भलीप्रकार से पालन करने वाले श्रमण नैतिक और सामाजिक महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं। समाज में ऐसे साधुओं की प्रतिष्ठा विशेष रहती है जो अपने आवश्यकों का पालन करते हैं। वैज्ञानिकदृष्टि से भी इन मूलगुणों का महत्त्व कम नहीं है क्योंकि साधक की साधना में इनसे पवित्रता और आत्मा की विशुद्धि बढ़ती है। इनके अशक का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। अन्य लोगों की भावनायें ऐसे साधकों के प्रति जुड़ती है। अतः षडावश्यक रूप मूलगुणों का विशेष स्थान है।

साधुओं के द्वारा उष्कृष्टतः दो माह में मध्यम तीन माह में जघन्य चार माह में उपवास पूर्वक दिन में हाथों से मस्तक, दाढ़ी और मूँछ के बाल उखाड़ना लोच नामक मूलगुण है।

इस मूलगुण के माध्यम से धर्म की महती प्रभावना होती है शरीर के प्रति निर्ममत्व जागृत होता है जिससे नैतिक कर्तव्य की पूर्ति होती है। समाज में साधक के वैराग्य गुण की प्रशंसा होती है। सहनशीलता बढ़ती है यह वैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

वस्त्र तृण पर्ण आदि से शरीर को न ढकना और हार मुकुट आदि से शरीर को अलंकृत नहीं करना नग्नत्व या आचेलकय नामक मूलगुण है।

इससे शरीर के प्रति निर्ममता। शीत उष्णवेदना सहने की शक्ति का बढ़ना। शरीर से राग कम होने से आत्म गुणों की संभाल होना नैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक तीनों दृष्टियों से महत्त्व बढ़ाती हैं।

स्नान, उबटन, अंजन आदि का त्याग रखना अस्नान नामक मूलगुण है। यह मूलगुण मल परीषहजय कराता है। शरीर के प्रति राग घटाता है। जल का अधिक व्यय न करने के कारण जल-कायिक जीवों की विराधना से बचाता है साथ में त्रस जीवों की विराधना से बचाता है अतः नैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक सभी दृष्टियों से अस्नान मूलगुण का महत्त्व है। यह अशुभ लक्षण वर्तमान में सुनाई देने लगा

है कि कोई एक साधु इस मूलगुण में शिथिलता बरतने लगे हैं, जो दिग्म्बरत्व के प्रति दुर्गुण है। समाज को चिंतन का विषय भी है।

क्षितिशयन मूलगुण के पालक साधु जीव बाधा रहित स्थान में एक करवट से शयन करते हैं। जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक एवं असंयमी जीवों का आवागमन न हो तथा जहाँ संक्लेश परिणामों के कारणभूत जीव हिंसा, मर्दन, कलह आदि न हो ऐसे चारित्र योग्य प्रासुक भूमि पर गृहस्थ योग्य शय्या और संस्तर से रहित अपने शरीर प्रमाण तृणादि के संस्तर पर अथवा काष्ठ फलक आदि पर दंड के समान अथवा धनुष के समान एक बगल से सोना भूशयन मूलगुण है इस मूलगुण से विधिवत पालन करने वाला साधु नैतिक कर्तव्य का पालन तो करता ही है साथ में सामाजिकदृष्टि से सम्मान प्राप्त करता है। इसमें आलस्य का अभाव रहता है। निद्रा कम आती है भोगाकांक्षा नहीं रहती है जिससे आत्मगुणों का विकास होता है अतः वैज्ञानिकदृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस मूलगुण का कुछ साधु पालन न करके नैतिक सामाजिक और वैज्ञानिक तीनों दृष्टि से धर्म की हानि के निमित्त बन रहे हैं। यह सत्य है कि संप्रति शुभ संहनन का अभाव होने से पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शून्य घर, पर्वत, गुफा, शिखर, वृक्षमूल, नदीतट आदि उपयुक्त वसतिकाओं में रहना शक्य नहीं है^६ किंतु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि जहाँ स्त्री/पशु/सप्तव्यसनी जनों का आवागमन या निवास हो वहाँ उन कोठियों/ बंगलों में गृहस्थों के डबल बैड गद्दे हटाकर चटाई बिछवाकर शय्या बनाकर शयन किया जाये। यदि शहर में ही आसन-शयन करना कारणवशात् आवश्यक है तो अनुदृष्टि देव मंदिर धर्मशालयें, शिक्षालय या तीर्थस्थान पर रहकर ध्यान साधना करना चाहिये।^१ श्रावकों के आवास में कभी नहीं उठराना चाहिये क्योंकि वहाँ निवास करने वाले मुनियों से जिनाज्ञा का उल्लंघन किया जाता है।

दाँतों आदि से दाँत साफ न करना, अदंत धावन मूलगुण है। इससे इंद्रिय संयम होता है। ग्लानि के भाव को उत्पन्न नहीं होने देते हैं।

अपने हाथ को भोजन का पात्र बनाकर खड़े-खड़े निर्दोष आहार लेना स्थिति भोजन नामक मूलगुण है।

सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी छोड़कर केवल एक बार में आहार, पानी लेना एक भक्त नामक

मूलगुण है।

अदन्तधावन, स्थितभोजन और एकभक्त ये तीनों मूलगुण साधक की साधना की वृद्धि में परम सहायक होते हैं क्योंकि इनसे इन्द्रिय और शरीर पर नियंत्रण तो होता ही है। आलस्य रहित जागृत अवस्था रहती है जिससे ये मूलगुण नैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिकरूप से साधक की आत्मा के प्रभावक हैं। इनके पालन से साधु ज्ञान ध्यान तप में वृद्धि को प्राप्त होता है।

साधु के उक्त २८ मूलगुण ही होते हैं। न तो २८ से अधिक न कम। सामान्यरूप से ये २८ मूलगुण साधुओं के द्वारा जीवन पर्यन्त पालन किये जाते हैं। विशेष यह है कि महाव्रत आदि यमरूप अर्थात् सर्वकाल जीवन में पालन किये जाते हैं किंतु अन्य मूलगुण नियमरूप अर्थात् अल्पकाल की अवधि को लिए हुए होते हैं। सभी मूलगुणों का पालन आवश्यक है इनमें से किसी भी के बिना निर्दोष मुनिपना सिद्ध नहीं होता।^{१०} यदि कोई साधु मूलगुणों को छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणों के परिपालन में ही प्रयत्न करने वाले तथा निरंतर पूजा आदि की इच्छा रखने वाले साधु का यह प्रयत्न मूलघातक होगा। कारण कि उत्तरगुणों में दृढ़ता उन मूलगुणों के निमित्त से प्राप्त होती है। इसीलिए यह उनका प्रयत्न उसप्रकार का है जिस प्रकार युद्ध में कोई मूर्ख सुभट अपने सिर का छेदन करने वाले शत्रु के प्रहार की चिन्तन करके केवल अंगुली के अग्रभाग को खण्डित करने वाले प्रहार से ही अपनी रक्षा का प्रयत्न करता है।^{११} यहाँ स्पष्ट किया गया है कि मूलगुणों को निर्दोष रीति से पालना ही श्रेयस्कर है। जो संयत महाव्रत आदि से युक्त हैं, वही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गी वंघ हैं / पूज्य हैं।^{१२}

वर्तमान में मूलगुणों में शिथिलता ही नहीं देखी जा रही है बल्कि कुछ साधु एकाधिक मूलगुणों का पालन ही नहीं कर रहे हैं, जो मूलगुणों का पालन न करें उनके विषय में किसी शंकाकार ने शंका की है “यदि कोई मुनि २८ मूलगुणों का ठीक प्रकार से पालन नहीं करता तो सम्यग्दृष्टि को उसे नमस्कार करना चाहिए या नहीं? यदि वह एक या दो मूलगुणों का बिलकुल ही पालन नहीं करता है, तो फिर वह नमस्कार का पात्र है या नहीं?” इसका समाधान पं. रतनचन्द्र जैन मुख्तार व्यक्तित्व और कृतित्व ग्रंथ के प्रथम भाग के पृष्ठ ७८८ पर इसप्रकार दिया गया है “जो मुनि २८ मूलगुणों का ठीक-ठीक पालन नहीं करता

अथवा एक या दो मूलगुणों की सर्वथा उपेक्षा कर देता है, वह मुनि ही नहीं है, अतः वह नमस्कार का पात्र नहीं है। भावलिंगी मुनि तो २८ मूलगुणों का यथार्थरीति से पालन करते हैं उनके अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु व अहिंसामयी धर्म का सच्चा श्रद्धान भी है। अतः मोक्षमार्ग में उनकी प्रशंसा है।

मोक्षमार्ग आज भी चल रहा है। पंचम काल के अंत तक चलेगा किंतु खेद है कि काल प्रभाव से मोक्षमार्ग पर चलने वाले भी कुछ जन परिग्रह पिशाच से पराभूत होकर जनसंपर्क को महत्त्व दे रहे हैं जबकि आचार्यपूज्यपाद ने लिखा है-

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्त विभ्रमाः।

भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

समाधिगतक

लोक संपर्क होने पर वचनालाप होता है उससे मानसिक चंचलता होती है और चित्त में विभ्रम होता है। इसीलिए योगी जनसंपर्क का त्याग करे।

शास्त्रकारों ने साधु को उसकी चर्या को स्पष्टरूप से बताया है। यदि किसी के द्वारा स्वरूप^{१३} को न समझकर परिग्रह ग्रहण किया जाता है, तो उसके कुफल को वही प्राप्त करेगा।^{१४}

आगम/शास्त्रों के उक्त कथनों के आधार पर मुनिराजों के चरणों में यही प्रार्थना करता हूँ कि मूलगुणों निर्दोषरीत्या का परिपालन करते हुए मोक्षमार्ग को प्रशस्त करें। ख्याति लाभ पूजा की चाह वश अपने नामों से संस्थाओं, क्लाबों, स्कूल, कॉलिज, धर्मशाला, आश्रम आदि के निर्माण योजनाओं में स्वयं को न लगाकर आत्महित करें, जिससे जिन धर्म की प्रभावना हो।

सन्दर्भ:-

१. पडिवज्जदु सामण्णं जाद इच्छसि दुक्खा परिमोक्खं ॥ ३/१ प्र.सा.
२. दंसणणाणचरित्तसु तीसु जुगवं समुद्धिदो जो दु।
एयग्गदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ ३/४२ प्र.सार
३. प्रवचनसार ३/४३
४. अत्थेसु जो ण मुट्ठेज्जदि णहि रज्जदि णेव दोस मुक्यादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥
प्रवचनसार ३/४४
५. प्रवचनसार ३/४२
६. परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ ३/३९
प्रवचनसार
७. जस्स परिग्गहगहणं अणं बहुयं व हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिग्गहरहिओ णिरायारो ॥ सूत्रपाहुड ९
जिस वेष में थोडा या बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है, वह निंदनीय है क्योंकि जिनवचन में परिग्रह रहित को ही मुनि कहा है।
८. भगवती आराधना २३१, ६३८ मूलाचार गा. ७९१, ७९५
९. भगवती आराधना ६३९
१०. यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोनातिरिक्ताः कदाचन।
सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ ७४३-४४
उत्तरार्द्ध पंचाध्यायी
११. मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु परं, दण्डो मूलहरो
भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः।
एकं प्राप्तभरेः पहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं, रक्षत्यंगुलिकोटि-
खण्डन करं कोऽन्येरणे बुद्धिमान् ॥ पदमनन्दि पं.१/४१
१२. पंच महव्यय जुतो तिहिं गुत्तिहिं जोस संजदो होइ।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो ॥ सूत्रपाहुड २०
१३. वालग्ग कोडिमत्तं परिग्गहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णणं एक्क ठाणम्मि ॥ सूत्रपाहुड १७
१४. जह जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्प बहुयं तत्तो पुण णिग्गोदं ॥ सूत्रपाहुड १८

रीडर, संस्कृत विभाग,
दि. जैन कालिज, बड़ौत

श्री राकेश कुमार जैन विद्यावारिधि (पी.एच.डी.) घोषित

श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय सांगानेर, जयपुर के प्राचार्य एवं राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय में श्रमण संकाय के डीन श्री डॉ. शीतलचंद्र जैन के निर्देशन में राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से श्री राकेश कुमार जैन को महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा विरचित वीरोदय महाकाव्य के आधार पर 'वीरोदयमहाकाव्यस्य दार्शनिकमनुशीलनम्' विषय पर विद्यावारिधि उपाधि प्रदान की गयी।

उक्त उपलब्धि हेतु श्री राकेश कुमार जैन को महाविद्यालय एवं श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर, जयपुर परिवार की हार्दिक शुभकामनाएँ।

वीरेन्द्र कुमार जैन

रात्रि में देव पूजन करना आगमसम्मत नहीं

पं. पुलक गोयल

श्रावक के षट्कर्मों में देव पूजा को प्रथम स्थान दिया गया है। आचार्यों ने पूजा के संबंध में इस प्रकार कहा है-

पूजा श्रीमाज्जिनेन्द्राणां, पाद पद्मद्वये मुदा।

महा भव्यैः प्रकर्तव्या, लोक द्वय सुख प्रदा।

(स.स. १८६)

अर्थ- महान् भव्य जीवों को इस लोक और परलोक में सुख देने वाली श्री जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरण कमलों की पूजा हर्ष पूर्वक करनी चाहिये।

वर्तमान में श्रावकों में देवपूजा करने की रूचि एवं उसके प्रति आदर भाव निरंतर बढ़ता हुआ भी देखा जा रहा है, जो शुभ सूचक है। परंतु कुछ महानुभाव रात्रि में भी देव पूजा करते हुये दिखाई देते हैं। सन् १९९६ में जब पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज का चातुर्मास महुआ (सूरज-गुजरात) में हो रहा था, तब महुआ के निवासी कुछ लोग दशलक्षणपर्व के दिनों में रात्रि को १० बजे पर्व की पूजा प्रारम्भ करते थे और २ बजे रात्रि तक करते रहते थे। महुआ का प्रसिद्ध भगवान् पार्श्वनाथ का मंदिर नदी के किनारे पर स्थित है। रात्रि में पूजा स्थल पर विशेष प्रकाश व्यवस्था होने से चार इन्द्रिय जीवों की महान् हिंसा होती थी। प्रातः जब सफाई होती थी तब लाखों मच्छर एवं टिड्डे आदि जंतु मरे हुये मिलते थे। मैंने उनको इस संबंध में बहुत समझाने की कोशिश की, परंतु वे कुछ भी सुनने को तैयार नहीं हुये। क्या इतनी घोर हिंसा होने के बाद जो पूजा की जाय, उसे पुण्य बंध में कारण माना जा सकता है? कभी नहीं माना जा सकता। जैन धर्म का मूल तो अहिंसा है। श्रावक के पूजा आदि षट्कर्मों में यद्यपि तुच्छ हिंसा अवश्यम्भावी है, जैसे अभिषेक के लिये जल गर्म करना आदि में। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिंसा करने में स्वच्छन्द हो जाया जाये। पूजा आदि कार्यों में भी पूरे यत्नाचार सहित ही प्रवृत्ति होनी चाहिये। यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति ही धर्म है।

विभिन्न श्रावकाचारों में जब इस विषय पर खोज की गयी तो मुझे दो प्रकार के प्रमाण प्राप्त हुये। एक तो ऐसे प्रमाण थे जिनमें प्रातः अथवा सुबह, दोपहर तथा सांयकाल तीनों समय पूजा करने का विधान मिलता है एवं दूसरे प्रमाण वे मिले जिनमें रात्रि पूजा का स्पष्ट निषेध

मिलता है। नीचे उनमें से कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

(अ) प्रातः काल अथवा तीनों सन्ध्याकालों में

पूजा के आगम प्रमाण

(१) श्री यशस्तिलक चम्पू में कहा है-

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान् नित्यं त्वदाचरण कीर्तन
कार्मितेन ॥ ५२९ ॥

अर्थ- हे देव! प्रातः कालीन विधि आपके चरण कमलों की पूजा से सम्पन्न हो, मध्याह्न काल का समागम मुनियों के आतिथ्य सत्कार में बीते तथा सांय काल का भी समय आपके चरित्र के कथन कामना में व्यतीत हो।

(१) श्री व्रतोद्योतन- श्रावकाचार में कहा है-

भव्येन प्रातरुत्थाय जिनबिम्बस्य दर्शनम्।

विधाय स्वशरीरस्य क्रियते शुद्धिरूत्तमा ॥ २ ॥

परिधाय धौतवस्त्राण्यादाय सच्चन्दनानि पुष्पाणि।

तेन युगान्तर दृष्ट्या दृष्टव्या जीव संघांताः ॥ ३ ॥

जिन भवनं तेन तदालोकयता त्रिप्रदक्षिणं कृत्वा।

आरभ्या जिनपूजा श्रुतपूजा मुनीन्द्र पूजा च ॥ ४ ॥

अर्थ- भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर और जिनबिम्ब का दर्शन करके अपने शरीर की उत्तम शुद्धि करनी चाहिये ॥ २ ॥

पुनः धुले वस्त्रों को पहिनकर और उत्तम चंदन पुष्पादि लेकर चार हाथ भूमि को शोधते और जीव समूह को देखते हुए जिन मंदिर को जाना चाहिए ॥ ३ ॥

वहाँ जाकर और तीन प्रदक्षिणा देकर जिन पूजा, श्रुतपूजा और मुनिजनों की पूजा आरंभ करनी चाहिये ॥ ४ ॥

(३) श्री धर्म संग्रह श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

प्रातर्जिनालये गत्वा स्तुत्वा चेष्ट्वा जिनादिकान्।

तत्र स्थित्वा कियत्कालं प्रगच्छेन्निजमंदिरम् ॥ ६२ ॥

अर्थ- पुनः प्रातः काल जिनालय जाकर और वहाँ देव, गुरु तथा शास्त्रादि की संस्तुति करके तथा पूजन करके और कुछ समय तक वहाँ पर रहकर इसके बाद फिर अपने मकान पर आवे ॥ ६२ ॥

(४) श्री चारित्रसार ग्रंथ में इस प्रकार कहा है-

बलि स्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वामिनः

पूजाभिषेक करणम्।

अर्थ- नैवेद्य समर्पण करना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओं में तीन जगत के स्वामी जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, अभिषेक करना आदि भी पूजन के ही अंतर्गत हैं।

(५) श्री सागारधर्मांमृत में इस प्रकार कहा है-

भक्त्या ग्रामगृहादि शासन विद्या दानं त्रिसन्ध्याश्रया।

सेवा स्वेऽपि गृहेर्चनं च यमिनां नित्य प्रदानानुगम् ॥ २/२५ ॥

अर्थ- शास्त्रोक्त विधि से गाँव, घर, दुकान आदि का दान देना, अपने घर में भी अरिहंत की तीनों संध्याओं में की जाने वाली सेवा तथा मुनियों को भी नित्य आहार दान देना है बाद में जिसके, ऐसी पूजा नित्यमह पूजा की गई है ॥ २/२५ ॥

(६) श्री वसुन्दि श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

रत्तिं जग्गिज्ज पुणो तिसटिट् सलाय पुरिससुकहाहिं।

संघेण समं पुज्जं पुणो वि कुज्जा पहायम्मि ॥ ४२२ ॥

एवं चत्तारि विणाणि जाव कुज्जा तिसंझ जिणपूजा।

नेत्तुम्मीलणपुज्जं चउत्थणहवणं तओ कुज्जा ॥ ४२३ ॥

अर्थ- पुनः संघ के साथ तिसैठ शलाका पुरुषों की सुकथालापों से रात्रि को जगे अर्थात् रात्रि जागरण करें और प्रातः काल संघ के साथ पूजन करें ॥ ४२२ ॥

इस प्रकार चार दिन तक तीनों सन्ध्या में जिन-पूजन करे। तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन पूजन और चतुर्थ अभिषेक करें ॥ ४२३ ॥

(७) श्री गुण. श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

स्मृत्वानंतगुणोपेतं जिनं सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत्।

वंदना क्रियते भक्त्या तद्भावाचर्चनमुच्यते ॥ २२५ ॥

अर्थ- अनंत गुणों के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण करते हुए, तीनों संध्याओं में उनकी जो पूजा, वंदना भक्ति सहित की जाती है, उसे भाव पूजा कहते हैं।

(८) श्री प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है:-

त्रिकालं-जिननाथान् ये, पूजयन्ति नरोत्तमाः।

लोकत्रयभवं शर्म, भुक्त्वा याति परं पदम् ॥ २१० ॥

अर्थ- जो उत्तम पुरुष सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं। वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले, समस्त भोगों को भोगकर मोक्ष पद में जा विराजमान होते हैं।

(९) श्री गुणभूषण श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

प्रातः पुनः शुचीभूय निर्माप्याप्ताआदि पूजनम्।

सोत्साहस्तदहोरात्रं सदध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ- पुनः प्रातःकाल पवित्र होकर देव शास्त्र गुरु

आदि का पूजन करके उत्साह के साथ उत्तम ध्यान और अध्ययन करते हुये उस दिन और रात्रि को बिताये।

(यहाँ प्रातः काल पूजन करना कहा गया है और रात्रि को ध्यान एवं अध्ययन करने का विधान किया है)

(१०) श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में इस प्रकार कहा है-

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।

निर्वृतयेद्यथोक्तं, जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५५ ॥

अर्थ- पुनः प्रातःकाल उठकर और तात्कालिक क्रिया कलाप को करके प्रासुक द्रव्यों के द्वारा आगमोक्त विधि से जिनदेव की पूजन करे।

(११) किशनसिंहकृत क्रियाकोष में इस प्रकार कहा है- पूर्वाह्निक पूजा जो करेह, वसुदरब मनोहर करि धरे।

मध्याह्न पूज समए सु एह, मनु हरण कुसुम बहु पेखि देह। ३८। अपराह्न भविक जन करिह एव, दीपहि चढ़ाय बहु धूप खेव। इहि विधि पूजा करि तीन काल, शुभकंठ उचारिय जयह माल। ३९।

अर्थ- जो प्रातःकाल पूजा करता है वह अष्टद्रव्य मनोहर लेकर करता है। मध्याह्न मे बहुत से मनोहर फलों से करता है। शाम को भव्यजन दीपक चढ़ाकर और धूप खेकर पूजा करते हैं। इस प्रकार तीनों कालों में पूजा करके अच्छे कंठ से भगवान् के गुणों का गान करना चाहिए। (नोट- रात्रि में पूजा करना नहीं लिखा है)

(१२) श्री श्रावकाचार सारोद्धार में इस प्रकार कहा है-

प्रातरुत्थाय संशुद्धकायस्तात्कालिकीं क्रियाम्।

रचयेच्च जिनेन्द्रार्चा जलगंधाक्षतादिभिः ॥ ३१३ ॥

अर्थ- प्रातः काल उठकर तात्कालिक शौचादि क्रियाओं को करके शुद्ध शरीर होकर जल-गंध-अक्षत आदि द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की पूजा करें।

(१३) श्री धर्मरत्नाकर में भी कहा है-

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।

निर्वृतयेद्यथोक्तं, जिन पूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ ५०३ ॥

अर्थ- इसके बाद प्रातः काल उठकर और तात्कालिक सामायिक आदि विधि को करके प्रासुक द्रव्यों के द्वारा आगमोक्त विधि से जिनपूजा करनी चाहिये।

रात्रि में पूजा निषेध के आगम प्रमाण

१. श्री धर्मसंग्रह श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

न श्राद्धं दैवतं कर्म स्नानं दानं न चाहुतिः।

जायते यत्र किं तत्र नराणां भोक्तुमर्हति। ३-२५।

अर्थ- जब रात्रि में श्राद्ध, देवकर्म (पूजा), स्नान,

दान और आहुति आदि कर्म नहीं होते हैं, तो रात्रि में क्या मनुष्यों के लिये भोजन योग्य कर्म कहा जा सकेगा? कभी नहीं। (यहाँ रात्रि में देवपूजा तथा स्नान आदि का निषेध किया गया है)

२. श्री धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार में कहा है-

‘रात्रौ स्नान विवर्जनं’ । ७३ ।

अर्थ- रात्रि में स्नान करने का त्याग करें। अर्थात् क्योंकि स्नान बिना पूजन संभव नहीं है, अतः रात्रि में पूजा का निषेध प्राप्त होता है।

३. श्री सागारधर्मावृत में इस प्रकार कहा है-

यत्र सत्पात्रदानादि किञ्चित् कर्म नेष्यते ।

कोऽद्या-तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये । ४-२७ ।

अर्थ- जिस रात्रि में सत्पात्रदान, स्नान और देवपूजा आदि कोई भी शुभकर्म नहीं किया जाता है, उस पाप पूर्ण रात्रि के समय में कौन अपना हित चाहने वाला पुरुष भोजन करेगा? कोई नहीं।

४. श्री अमितगतिश्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

यत्र नास्ति यतिवर्ग संगमो, यत्र नास्ति गुरु देव पूजनम् ।

यत्र संयम विनाशि भोजनं, यत्र संसजति जीव भक्षणम् । ४१ ।

अर्थ- जिसमें साधु वर्ग का संगम नहीं है, जिसमें देव और गुरु की पूजा नहीं की जाती है, जिसमें खाया गया भोजन संयम का विनाशक है और जिसमें जीते जीवों के भी खाने की संभावना रहती है (ऐसी रात्रि में भोजन न करे।)

५. श्री कुंदकुंदश्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

रात्रौ न देवता पूजां स्नान दानाशनानिच ।

न वा खदिर तांबूलं, कुर्यान्मंत्रं च नो सुधीः । ५/५ ।

अर्थ- बुद्धिमान पुरुष रात्रि में न तो देवताओं की पूजा करे, न स्नान-दान-भोजन ही करें। न कत्था तांबूल का भक्षण करें और न मंत्र को सिद्ध ही करें। ५/५ ।

(६) श्री लाटी संहिता में इस प्रकार कहा है-

तत्रार्धरात्र के पूजां, न कुर्यादहंता मपि ।

हिंसाहेतोरव स्यान्नरात्रौ पूजा विवर्जनम् ॥ ५-१८६ ॥

अर्थ- (प्रसंग- तीनों संधि कालों में अर्थात् प्रातः, दोपहर तथा सांयकाल भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करें परंतु) आधी रात के समय भगवान् अरहंत देव की पूजा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि रात्रि में पूजा करने से जीवों की

हिंसा अवश्य होती है अतः रात्रि में पूजा करने का निषेध है।

इसप्रकार उपरोक्त सभी श्रावकाचारों के प्रमाणों का निष्पक्ष अध्ययन करने से निम्नलिखित तीन बिंदु स्पष्ट होते हैं।

१. पूजा प्रातःकाल उठकर करनी चाहिये।

२. प्रातः, दोपहर तथा संध्याकाल इन तीनों कालों में भी पूजा करने का विधान है, परंतु किसी भी शास्त्र में रात्रि में पूजा करने का उल्लेख नहीं मिलता।

३. श्रावकाचारों में, रात्रि में पूजन करने का स्पष्ट निषेध भी पाया जाता है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि रात्रि में जीव हिंसा बहुत होने के कारण, श्रावक को रात्रि में कदापि पूजा नहीं करनी चाहिये। रात्रि में स्वाध्याय, ध्यान, त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा आदि करने योग्य हैं। वर्तमान में अज्ञान या गलत क्रियायें करने का मुख्य कारण, शास्त्रों के स्वाध्याय का अभाव, हमारा भोलापन तथा कुछ गलत विद्वानों आदि के द्वारा अर्थ का अनर्थ करके सीधे सादे लोगों को बहकाना है। जब उपरोक्त इतने सारे श्रावकाचारों में स्पष्ट रात्रि पूजा करने का निषेध है, तब फिर भी यदि रात्रि में पूजा की जाती है, तो ऐसे लोगों को कैसे समझाया जाये? समाज में ऐसे अधकचरे पंडित बहुत सारे बन गये हैं, जो न तो संस्कृत जानते हैं, न प्राकृत ही उन्होंने पढ़ी है, न संस्कृत में शास्त्री है और न आचार्य की डिग्री प्राप्त की है, फिर भी वे अन्य विद्वानों की गलतियां निकालते हुये अर्थ का अनर्थ कर अपनी स्वार्थसिद्धि में लगे हुये हैं। समाज को ऐसे विद्वानों या साधुओं से अत्यंत सावधान रहने की जरूरत है।

अतः मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि किसी विद्वान् या साधु के द्वारा बहकाये जाने से बचें। स्वयं स्वाध्याय करें और अपना निर्णय लेने का साहस बनायें। मेरे इस लेख लिखने का अभिप्राय यही है कि श्रावकाचारों में वर्णित विषय को पढ़कर स्वयं का निर्णय बनाते हुये, रात्रि में पूजा करने से होने वाले पाप से बचें और जिनेन्द्रदेव की वाणी के अनुसार प्रधान धर्म के सच्चे पालक बनें। शुभं भूयात्।

इन्दौर (म.प्र.)

जीवधर्म के प्रवर्तक भगवान् वृषभदेव (आदिनाथ)

पं. अनन्तबल्ले, जैनदर्शनाचार्य

शीर्षक पढ़कर पाठकों को अजीब सा लग सकता है कि, जैन धर्म की जगह जीव धर्म कहाँ से आया? इसमें अजीब लगने की कोई बात नहीं है। मेरे अभिप्राय से जैन धर्म यह नाम अर्वाचीन लगता है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्य के साहित्य में 'जोणह' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने 'जैन' ऐसा किया है तो भी यह धर्म के लिए उपयुक्त हुआ नहीं लगता है। 'जीव धर्म' ऐसा मैंने अपनी तरफ से नहीं लिखा है, यह तो भूवल्लय ग्रंथ के प्रणेता आचार्य श्री कुमुदेन्दु द्वारा भूवल्लय के मंगलाचरण में लिखा गया है और उसी को मैंने ज्यों का त्यों लिया है। 'जीव धर्म' से तात्पर्य मेरे अभिप्राय से यह है कि, जीव सब वस्तुओं में प्रधान है; इस धर्म के आचरण से सभी जीव अपना कल्याण कर सकते हैं, दुःखों से मुक्त हो सकते हैं। यह धर्म किसी जाति, पंथ के लिए सीमित नहीं है बल्कि जीव मात्र का धर्म है। कोई विद्वान् इस विषय पर विशद चर्चा करें तो अच्छा रहेगा, मैंने संक्षेप में अपना विचार व्यक्त किया है। इसी जीव धर्म का उपदेश युग के आदि में भगवान् आदिब्रह्म वृषभदेव ने उपदेश दिया था और तब से लेकर यह धर्म असंख्य जीवों का कल्याण करते आया है और वर्तमान के इस भौतिक युग में इसकी बहुत ही जरूरत है। आइए अब आगे चलते हैं, भगवान् वृषभदेव के इतिहास की ओर। वैसे तो भगवान् वृषभदेव पर बहुत से लेख पढ़ने को मिले हैं लेकिन मैं जिस विषय को प्रस्तुत करना चाहता हूँ वह कुछ अलग है। एक कीर्तन सम्राट तात्या चोपड़े करके विद्वान् हुये हैं, उनकी अनेक पुस्तकों में भगवान् वृषभदेव चरित्र (दो भागों में) एक पुस्तक है, इसका मात्र पहला भाग उपलब्ध है और वह भी जीर्ण-शीर्ण है। इसलिए मैंने मराठी से हिन्दी में भाषांतर करवाया है और इसी भाषांतर के आधार पर यह लेख लिख रहा हूँ, मतलब पृष्ठ संख्या आदि सब इसके अनुसार है। अब आगे बढ़ते हैं हमारे पूज्य आदर्श भगवान् ऋषभदेव की ओर।

भगवान् ऋषभदेव के ब्रह्मविद्या (ज्ञान) के बारे में चर्चा करते हुये चौपड़े साहब बताते हैं कि विद्या के अधिकारी और उत्पादक क्षत्रिय हैं। यह तो निश्चित है कि मूलतः क्षत्रिय जैन थे और क्षत्रियों के आदि पुरुष आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव हैं। पृष्ठ ११-१२ से पता चलता

है कि, छान्दोग्योपनिषद में एक कथा आती है कि "ब्राह्मण गौतम ऋषि विद्या सीखने के लिए क्षत्रिय जैबिली के पास गये तब जैबिली ने कहा, 'ब्रह्म मतलब ज्ञान यह विद्या ब्राह्मणों को नहीं आई अर्थात् यह विद्या दुष्प्राप्त है उसका अधिकारी और उत्पादक क्षत्रिय है' देखें-

न प्राकृत्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् ग्रच्छति।

तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत् ॥

(छान्दोग्योपनिषद)"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्या (ज्ञान) के उत्पादक जैन हैं और इसकी उत्पत्ति भगवान् ऋषभदेव से हुई है। ऐसा ही एक और प्रसंग पृष्ठ २८-२९ पर बताया गया है कि, 'उपनिषदों में एक कथा आती है-एक समय ब्राह्मण वंशी नारद, आत्म विद्या सीखने के लिए राजा सनत्कुमार के दरबार में गये। उस समय नारद कहते हैं कि मैं वैदिक विद्या में पारंगत हूँ लेकिन मैं अपने ज्ञान को परिपूर्ण नहीं समझता क्योंकि कुरू, पांचाल आर्यों की अपर विद्या और वैदिक ज्ञान भिन्न है। आर्यों की आत्म विद्या अथवा पर विद्या में मैं बिल्कुल अनभिज्ञ हूँ। आत्म विद्या में वैदिक यज्ञ कांड का निषेध किया है क्योंकि "जीव के आत्मोन्नति में यज्ञ बाधक है" (याज्ञवल्क्य)

स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव कि 'आत्मविद्या' ही आत्मोन्नति में सहायक है और जो जीव उसका आचरण करता है वह परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है। वैदिक साहित्य में आत्मविद्या की श्रेष्ठता को पढ़कर किस जैन को खुशी नहीं होगी; जैन दर्शन की श्रेष्ठता हमारे मस्तक को ऊँचा किये बिना नहीं रहेगा।

आगे पृष्ठ ५५ पर भगवान् ऋषभदेव मत्स्यद्रनाथ इन दोनों के संबंध पर प्रकाश डाला गया है। वे लिखते हैं- "भगवान् ऋषभदेव ने जिस समय दीक्षा ली उस समय चार हजार राजा लोगों ने दीक्षा ली थी, लेकिन भगवान् ऋषभदेव जैसे उनको भूख आदि परिषह सहन नहीं हुये इसलिए उन्होंने भगवान् ऋषभदेव को छोड़ दिया और अलग-सा ही पंथ निकाला और वही यह नाथ पंथ है। यह नाथ पंथ का इतिहास हिन्दू धार्मिकों ने निम्न रीति से दिया है, 'अत्यंत प्राचीन काल में नौ-नारायण अस्तित्व में थे। लक्ष्मी पति ने (विष्णु ने) इन नौ नारायणों का अवतार लेकर उन्हें मृत्यु लोक में सृष्टि का संहार करने के लिए

कहा। इसीतरह उन्होंने अवतार लिया। इन नाथों में मत्स्येंद्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ प्रसिद्ध हैं। इन नव नाथों में जगदुद्धार का काम किया' (देशमुख कृत क्षत्रियों का इतिहास पृष्ठ २२८)। इस प्रकार सच्चाई देशमुख जी ने अपने क्षत्रियों का इतिहास में दिया है इस पर से नवनाथ पंथ और उनके मुख्य प्रचारक मत्स्येंद्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ, जालंधरनाथ इत्यादिकों का संबंध जैन धर्म से है यह देखें-

इन नवनाथों का इतिहास का प्रारंभ 'अत्यंत प्राचीन काल में' ऐसा कहा है और इनका संबंध नौ नारायणों से जोड़ा है। इन नौ नाथों को प्राचीनकाल के नौ नारायणों का अवतार माना जाता है। अत्यंत प्राचीनकाल का मतलब जैन धर्म के अलावा किसी का नहीं हो सकता और दूसरी बात यह कि, नौ नारायण ये जैन धर्म को छोड़कर अन्यत्र कहीं पर हुये हैं ऐसा कहीं भी सुनने में नहीं आता है। कृष्ण और बलराम ये नारायण-प्रतिनारायण दोनों जैन धर्म में हुये हैं। यानि नाथ पंथ का उद्गम भी जैन धर्म से ही हुआ है ऐसा सिद्ध होता है। भगवान् ऋषभदेव के दीक्षा काल से इसका संबंध आता है।"

पृ.56 की टिप्पणी में कहा है-'देशमुखकृत क्षत्रियों का इतिहास' इसमें देखें- "नाथों में से विरक्त ऐसे हमेशा भ्रमण करने वाले विरागी महात्माओं को यति कहते हैं, इस पर से 'यति' यह शब्द जैन धर्म का ही है। 'सेतु बंध रामेश्वर में मारुति और मत्स्येंद्रनाथ इनके भाषण हुये थे। उसमें मत्स्येंद्रनाथ ने मैं 'यति' हूँ ऐसा कहा था। (मालुकविक्रत- नवनाथ कथा देखें)।' इस प्रसंग में पृष्ठ ५६ पर जो 'नाथ' शब्द की उत्पत्ति बताया है वह भी ध्यान देने योग्य है। चौपड़े लिखते हैं,- 'नाथ' यह शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। न + अथ= नाथ- ऐसा यह शब्द बनता है। यह नाथ शब्द स्वतंत्र नहीं है। 'न' मतलब नहीं और 'अथ' मतलब आदि (प्रारंभ)- मतलब 'न + अथ'= नाथ यानी जिसका आदि (प्रारंभ) नहीं अर्थात् 'अनादि' ऐसा नाथ शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार होता है। इसप्रकार से व्युत्पात्यर्थ पर से भी इस नाथ शब्द का प्राचीनत्व सिद्ध होता है। 'नाथ' यह उपपद उनके नाम के आगे लगाना उपयुक्त होगा, जो महात्मा अनादि है अथवा जिनका धर्म अनादि है।" इससे तो लगभग यह निश्चित हो जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ का संबंध भगवान् ऋषभदेव से है। आगे पृष्ठ ५८ पर चौपड़े बताते हैं कि- 'मत्स्येंद्रनाथ के गुरु जिसप्रकार भगवान् ऋषभदेव नाथ सिद्ध होते हैं उसीप्रकार

हिन्दूओं के प्रत्येक अवतारी पुरुषों के गुरुआदि नाथ ही ठहरते हैं। इस विषय में ज्ञानेश्वर महाराज क्या कहते हैं देखिये- "आदिनाथ गुरु सकल सिद्धाचा, मत्स्येंद्र तथाचा मुख्य शिष्य ॥ मत्स्येंद्राने बोध गोरखासीं केला: गोरक्ष ओकला गहिनीप्रती ॥ गहिनी प्रसादे निवृत्ति दानार ॥ ज्ञानदेवा योजविलें ॥" इसीप्रकार "आदिनाथं च मत्स्येंद्रगोरक्षं गहिनीं तथा ॥ निवृत्तिं ज्ञाननाथं च भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥" इसप्रकार से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि आदिनाथ भगवान् मत्स्येंद्रनाथ के गुरु हैं और स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज भी आदिनाथ भगवान् से ही अपनी गुरु परम्परा बताते हैं। आगे वे बताते हैं कि 'इसीप्रकार साधु नुकोबा की गुरु परम्परा आदिनाथ प्रभु से ही है। तुकोबाजी के गुरु बाबा चैतन्य अपने गुरु आदिनाथ प्रभु होने का बताया है (देशमुख कृत क्षत्रियों का इतिहास पृष्ठ २१६ देखिए)'

इसीप्रकार आद्यशंकराचार्य की गुरु परंपरा भगवान् आदिनाथ से प्रारंभ होती है। पृष्ठ ५९ पर चौपड़े लिखते हैं, "देखिए- (देशमुखकृत क्षत्रियों का इतिहास पृष्ठ २१९) और (भारत इ.स.म.स.पृ.६६)" गोसावी संप्रदाय के प्रवर्तक जो आद्यशंकराचार्य थे उनके गुरु गोविंदनाथ, उनके गुरु गौडपाद, इनके गुरु विष्णुदेव इसप्रकार बीच में चालीस गुरुओं के पश्चात् सदाशिव आते हैं उनके गुरु आदिशक्ति और बाद में उनके आद्य गुरु 'श्री आदिनाथ' (वृषभदेव) हैं" यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण लगती है कि खुद आद्यशंकराचार्य की गुरु परंपरा भी भगवान् आदिनाथ से प्रारंभ होती है। क्या वर्तमान के विद्वान् इसप्रकार से विशेष छान-बीन नहीं कर सकते। अन्वेषणा करने पर और भी जैन धर्म के इतिहास को पुष्टी देनेवाली जानदार बाते मिल सकती हैं। गरज है इच्छा और लगन की। पृ. ६० पर लिखा है कि, नाथ पंथ के इतिहास में देखमुख कहते हैं कि,- नाथ पंथ के लोग,- बोलो हर हर महादेव कहते हैं" और परस्पर मिलते समय 'आदीश' कहकर आलिगंन देते हैं। इस आदीश का संबंध यद्यपि देखमुखजी कहते हैं कि यह शिवस्मरण में कहा जाता है फिर भी यह उनका कहना सही नहीं है। कारण, आदि + ईश = आदीश मतलब इसका अर्थ आदिनाथ ऐसा ही होता है। इसमें शिवजी का क्या संबंध है!..." इसी पृष्ठ की टिप्पणी में लिखा है कि, मायामत्स्येंद्रनाथ या बोलपट में दृश्य २७ वाँ देखिए-इसमें गोरखनाथ और मत्स्येंद्र के दूसरे एक शिष्य इन दोनों के मिलन के समय वे परस्पर "जय आदीश" (आदिनाथ) कहकर हाथ जोड़कर बैठते हैं, इस पर से प्राचीनकाल

में "आदीश" इस शब्द को नमस्कार के बदले लेते होंगे।

पृ. ६१ पर से मालूम होता है कि, जिस समय यह पुस्तक लिखा गया था उस समय नाथ पंथ की जनसंख्या पंद्रह लाख थी। उसमें नग्न गोसावीयों की जनसंख्या ज्यादा थी। आगे चौपड़े साहब कहते हैं कि नगनावस्था मतलब जंगली अवस्था है ऐसे जो विद्वान् कहते हैं उनकी आंखों में यह नंगे गोसावीयों का वर्ग मतलब है तीखा अंजन है। इसी पृष्ठ पर लिखा है कि भागवत अध्याय ६ श्लोक ५ में बताया है कि, "वृषभनाथ चरित्र सुनकर कोंक, केंट और कुटक देशों के राजाओं ने वृषभनाथ जी के पास दीक्षा ली। वृषभनाथ जी के समय ३६३ पाखंडी उपदेशक थे" इससे यह पाखंडी यति इन नाथपंथ पंथवालों में से ही होने चाहिए। पृ. ६२ की टिप्पणी में लिखा है, भरत कुल से श्री मत्सेन्द्रनाथ का अत्यंत एकत्व भाव का संबंध था इतना कहे तो बस है (देशमुखकृत क्षत्रियों का इतिहास पृ. ३३२ देखिये) आगे 'नः विष्णुः पृथिवीपतिः' इस पर चर्चा करते हुये लिखा है कि इसका अर्थ 'राजा विष्णु का अवतार है' वे कहते हैं कि यह जैन धर्म से संबंधित है। पृ. ६४ पर लिखा है कि 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' यह जगत में एक अद्वितीय मान एक श्रेष्ठ और पूज्य व्यक्ति को ही मतलब वृषभदेव को ही है। वृषभदेव छोड़कर किसी भी राजा को विष्णु का अवतार नहीं कहा है। सिवाय वेदकाल में सूर्य को भी विष्णु कहते थे और वृषभदेव भी सूर्यवंशी ही हैं।

अब चलिए थोड़ा सा आगे बढ़े और उस कौम को देखें जिसका नाम सुनते ही कहीं लोगों के मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, लेकिन वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है। यह है इस्लाम धर्म। 'भगवान् वृषभदेव और इस्लाम धर्म' इस विषय पर चर्चा करते हुये चौपड़े साहब लिखते हैं, - "इस्लाम धर्म में सृष्टि के आदि पुरुष को 'आदमबाबा' ऐसे ही कहा है। 'आदम' यह आदि शब्द का रूप है। जैन धर्म में भी वृषभनाथ को (आदिनाथ को) आदिप्रभु और आदिम पुरुष ऐसे ही कहा है। आदम शब्द यह आदिम शब्द का स्पष्ट रूपांतर है। दो हजार वर्षपूर्व जैन शास्त्र में 'आदिम' शब्द मिलता है।" इसी पृष्ठ पर आगे लिखा है- "इस जगह एक महत्वपूर्ण और प्रचलित रुढ़ी ध्यान में रखने योग्य है याने श्री क्षेत्र धुलिया (राजपुताना) इस क्षेत्र के बारे में है। श्री क्षेत्र केसरिया के बाहर एक मस्जिद है, वहाँ मुसलमान लोग नित्य नमाज पढ़ते हैं और जाते वक्त 'आदमबाबा की दीन' ऐसा कहकर निकल जाते हैं।

यह रुढ़ी क्या होगी? हमें लगता है कि राजपुताना में प्रथम मुसलमान घुसे होंगे और उन्होंने आर्यों को प्रथम जबरदस्ती से उधर ही भ्रष्ट किया उनमें से जो जैन धर्मीय थे उन्हें अपने इष्ट देव से संबंध तोड़ना दुःसह हुआ होगा। फिर भी नमाज पढ़ने के निमित्त से अपने पूर्व देव का वे लोग भक्ती से दर्शन लेने के लिए आते होंगे, क्योंकि वह अगर कट्टर इस्लामी होते तो उनका काल ऐसा था कि वे वहाँ के मूल केसरियाजी की मूर्ति ही निकालकर उस जगह मस्जिद बना लेते।" यह विषय विचार प्रवर्तक लगता है और मेरा ऐसा विचार है कि इस विषय पर विशेष छानबीन होनी चाहिये। विद्वान् इस विषय पर अपना ध्यान लगाएँ तो और विशेष जानकारी प्राप्त हो सकती है।

पैगंबर शब्द का अर्थ बताते हुए वें पृ. ५७ पर लिखते हैं- पै+ग+अंबर पैगंबर ऐसा शब्द तैयार हुआ है। 'पै' मतलब कुछ नहीं, 'ग' मतलब गर्व और 'अंबर' मतलब वस्त्र। इसके शब्द 'रहीम' मतलब शांति। इसप्रकार और भी शब्दों का खुलासा किया है। पृ. ६८ पर पैगंबर शब्द का एक और अर्थ संदेश वाहक ऐसा लिखा है। इसी पृष्ठ इस्लाम धर्म के मुख्य पंथों की चर्चा करते हुए लिखा है, इस्लाम धर्म में एक आदि इस्लाम और दूसरा मूसा इस्लाम ऐसे दो भेद प्रमुख हैं। सिया, सुन्नी, मुगल और पठान ये भेद आजकल हैं। "आदम" मतलब प्रभु आदिनाथ के मत प्रकार मुसलमान लोग चलते थे उस समय 'आदम' इस देव को ये लोग मानते होंगे, वोही आदि इस्लाम है और आदम को मानने वाले जो भक्त वो ही 'आदमी' मतलब मनुष्य हैं। विष्णु के भक्त वैष्णव, शिव के भक्त शैव और जिन के भक्त वो जैन उसीप्रकार आदम के जो भक्त वो आदमी है। आगे जैनों में मुशकमुनी के उपदेश से जो भक्त लोग सुधरे वो मुशकमुनी के भक्त बनें। उन्हीं को आगे 'मुसा इस्लाम' इस नामसे संबोधित करने लगे होंगे। इस पृष्ठ की टिप्पणी में लिखा है कि 'मुशकमुनी ये भगवान् श्री महावीर जी के समकालीन थे।' इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है, लेकिन मैंने कई लोगों से मुशकमुनी के बारे में सुना है (दक्षिण में); क्या विद्वान् इसके लिये प्रामाण्य ढूँढ़ नहीं सकते? तात्या चौपड़े का अधूरा काम विद्वानों को पूरा करना चाहिए ऐसा मुझे लगता है।

"हिंदुओं की जो बारह ज्योतिर्लिंग आज वे प्राचीन-काल में जिन मंदिर ही थे। उनमें से काशी, यल्लोरा और ज्योतिबा (कोल्हापुर) इनका वर्णन हम इस प्रकरण में आगे

और दूसरे भाग में दिया है”। इस विषय पर विद्वानों के द्वारा विशेष अनुसंधान करने की आवश्यकता है। इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए लिखा है, “इन उपर्युक्त सभी मंदिरों में महादेव की पिंडी बिठाई है। महादेव को महारूद्र इस नाम से जैन भी पहिचानते हैं, लेकिन वे न हाथ, न मुँह और न पैर ऐसा मात्र नहीं मानते। हिंदुओं के कई मंदिरों में महादेव की मूर्ति भी रहती है फिर भी वहाँ पिंडी रहती ही है। किसी भी मूर्ति का वर्णन करना हो तो वह मूर्ति जिस आकार की होगी उसीप्रकार वर्णन करने की रीति होती है, लेकिन इस महादेव का सभी विचित्र ही है। पोथी पुस्तक में अथवा स्तुति स्रोतों में उनका वर्णन करना हो तो, हाथ में त्रिशूल, सरपर जटा, व्याध्रांबर धारी, शंखधारी, गले में रुंडकीमाला इत्यादि का वर्णन करते हैं, लेकिन मंदिरों में महादेव की मूर्ति देखें तो सिर्फ गोलाकार पत्थर बिठाया नजर आता है ऐसा प्रकार क्यों होगा? इसका अगर विचार किया तो ऐसा लगता है कि- प्राचीनकाल में वृषभनाथ को ही महादेव कहकर पूजा करते थे इसके आगे धर्मांतर किये हुये क्षत्रियों के मन में पूर्व धर्म की (जैन धर्म की) भावना नष्ट हो इसीलिए वृषभदेव मूर्ति के पास महादेव कहकर रखा होगा। पूना, अहमदनगर, नासिक इस जगह जैनकासार और हिंदूकासार (ये पहले जैन ही थे) इनके दर्शन के लिए कालिका मंदिर में भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति रखते थे।” (पृ. ७७-७८)

इसी पृष्ठ पर, याने पृष्ठ ७१ पर लिखा है, “यल्लोरा के लेणीयों में सबसे महत्त्वपूर्ण लेणी मतलब “कैलाश पर्वत”। पिछली बार चौकस बुद्धि से देखने के बाद यह लेणी मूलतः आदिनाथ तीर्थंकर का ही होगा ऐसा दिखा। इतिहास प्रसिद्ध राष्ट्रकूट घराने में से एक राजा ने यह तैयार किया है और राष्ट्रकूट राजा जैन धर्मीय थे यह अब सूर्य प्रकाश जितना सत्य साबित हुआ है। हिंदुओं ने इस लेणी में से मूल मूर्ति के ही इन्द्रियों को छोटकर उसी को महादेव की मूर्ति बनाई है यह कैलाश लेणी के आकृति से समझ में आता है। भगवान् आदिनाथ भी कैलाश पर्वत पर ही मोक्ष को गये है और इन लेणीयों का नाम भी कैलाश लेणी ऐसा ही है। (यल्लोरा की सभी लेणीयाँ जैनों की ही हैं, यह कैसे यह एक पुस्तक में देने वाले हैं।) किसी भी दृष्टि से विचार करें तो भी वृषभदेव और महादेव ये एक ही हैं। जैन लोग वृषभदेव आदिनाथ कहते हैं और हिंदू लोग महादेवजी को आदिनाथ मानते हैं, दोनों का स्थान कैलाश पर्वत ही है।” लेखक का कहना है कि इस

विवेचना से वृषभनाथ का परिवर्तन मूलस्वरूप में फरक करके महादेव कैसे बनाया है यह पाठकों के ध्यान में आया ही होगा; और यह काम हिंदुओं का आज का नहीं है, इसका उत्कृष्ट और ताजा उदाहरण मतलब पुने के चतुर्भुज लोकमान्य तिलक। लेखक की यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जैन तीर्थंकर का हिंदूकरण कैसे किया गया है।

यूँ तो, यदि भगवान् ऋषभदेव के बारे में लिखना चाहे तो अनेक पृष्ठें भर जायेंगी और यह भी है कि कम समय में भ. वृषभदेव के बारे में विस्तार से लिख भी नहीं सकते हैं। यहाँ थोड़ी बहुत जानकारी दी है, आगे कभी और विस्तार से लिखने का प्रयत्न करूँगा। इस लेख को लिखने का आशय यह है कि जैनों को भगवान् ऋषभदेव की महिमा मालूम हो और साथ में जैनों को अपने आदर्श पर स्वाभिमान बढ़े। भगवान् ऋषभदेव इस विश्व के श्रेष्ठ और आदर्श महापुरुष हैं और उन्होंने सर्वप्रथम प्रकृति के नियमों को बताया है यह पढ़कर किस जैन का मस्तक गर्व से ऊँचा नहीं उठेगा? भगवान् ऋषभदेव पर और विशेष अनुसंधान करने की आवश्यकता है, क्या विद्वान् चौपड़े साहब के तर्कों और उनके संशोधन को ध्यान से पढ़ें और विशेष संशोधन का कार्य करें तो आगामी समय में बहुत सी नई बातें सामने आने की उम्मीद है। इच्छा और लगन के साथ काम करने की आवश्यकता है और साथ में विश्व स्तर पर भगवान् ऋषभदेव का प्रचार प्रसार होना चाहिए। एक और बात यह है कि, जिसतरह हम भगवान् महावीर की जयंती मनाते हैं उसीप्रकार भगवान् ऋषभदेव की जयंति मनाये तो बहुत अच्छा रहेगा। सुना जाता है कि महावीर जयंती के राष्ट्रीय अवकाश को खारिज किया गया है, एक ही तो राष्ट्रीय अवकाश प्राप्त था वह भी खत्म हो गया, ऐसा होना नहीं चाहिए। कम से कम एक अवकाश तो हमें मिलना चाहिए चाहे भगवान् ऋषभदेव की जन्म जयंती पर मिले या भगवान् महावीर के जन्म जयंती पर। मेरे अभिप्राय से दोनों ही जयंतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं और इनके लिए विशेष उत्साह होना चाहिए। दोनों के लिए राष्ट्रीय अवकाश मिले तो कहना ही क्या। जैन समाज को इस विषय पर विशेष ध्यान देना होगा।

सारे विश्व में भगवान् ऋषभदेव की पूजा हो, उनका आदर हो इसी भावना से यह लेख समाप्त करता हूँ।

श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर
(जयपुर) राजस्थान

कविवर पं० दौलतराम जैन : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

सुमत कुमार जैन

दुर्लभ नर भव पाय सुधी जे, जैन धर्म सेवें।

'दौलत' ते अनन्त अविनाशी, सुख शिविका बेवें ॥

जैन धर्म के मर्मज्ञ, अध्यात्मविद्, अत्यंत प्रतिभाशाली, प्रकाण्ड विद्वान् कविवर पण्डित दौलतराम जी जैन का जन्म उत्तर प्रदेश के सासनी नगर के मुहल्ला छिपैटी में वि. सं. १८५५ (सन् १७६८) में गंगेरीवाल-फतेहपुरिया गोत्रीय श्री टोडरमल जैन पल्लीवाल के यहाँ हुआ। आपका विवाह सेठ चिन्तामणि जैन बजाज छिपैटी अलीगढ़ की सुपुत्री से हुआ था। आपके दो पुत्र वि. सं. १८८३ (सन् १८२६) तथा वि. सं. १८८६ (सन् १८२९) में सासनी में उत्पन्न हुए।

आपका व्यवसाय छोट छापने का था। आपके पूज्य पिताश्री अपने छोटे भाई चुन्नीलाल के साथ हाथरस में कपड़े का व्यापार करते थे। आपका कार्य क्षेत्र सासनी, हाथरस और अलीगढ़ रहा। वि.सं. १८८२ में आप श्री जम्बूस्वामी अतिशय क्षेत्र चौरासी, मथुरा के प्रतिष्ठापक सेठ श्री मनीराम जैन के साथ रहे। आपके ज्येष्ठ पुत्र टीकाराम लश्कर (ग्वालियर) में रहते थे तथा छोटे पुत्र के बारे में अधिक ज्ञात नहीं है क्योंकि इनका असमय ही निधन हो गया था।

आपका विविध विषयों के विद्वान् कवि थे किंतु साथ ही वैराग्य प्रकृति के धर्मात्मा सत्पुरुष भी थे। आपका जीवन क्रोध-लोभ-अहंकारादि से दूर रह कर सदैव जिन भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, अध्यात्म चिन्तन, वैराग्य भावना, संयमानुराग आदि श्रेष्ठ गुणों से सुरभित था। आपकी जिन अध्यात्म में गहरी रुचि थी, सदैव आध्यात्मिक चिंतन मनन में मग्न रहा करते थे। परंतु उनका यह अध्यात्म चिंतन शुष्क या नीरस नहीं था, अपितु वैराग्य से परिपूर्ण था। इससे स्पष्ट है कि कविवर दौलतराम के जीवन में ज्ञान और वैराग्य का अद्भुत समन्वय था। आप शुष्क ज्ञानी भी नहीं थे, तो अंधे वैरागी भी नहीं। आपके ज्ञान में वैराग्य की गति थी और वैराग्य में ज्ञान की चक्षु। आपके जीवन का मानो एक ही आदर्श वाक्य था- "अज्ञयणमेव ज्ञाणं" अर्थात् अध्ययन ही ध्यान है।

हिन्दी, संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं पर आपका अधिकार था। कहा जाता है कि जिस समय आप छोट छापने का कार्य करते थे उस समय अपने समीप एक

चौकी पर कोई प्राकृत या संस्कृत भाषा का शास्त्र विराजमान कर लेते थे और छोट छापते हुए उसकी गाथाएँ या श्लोक भी याद करते जाते थे। उनकी स्मरण शक्ति एवं रुचि इतनी प्रबल थी की वे एक दिन में साठ सत्तर गाथायें या श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे। उनके इस आचरण से प्रेरणा मिलती है कि व्यक्ति को व्यर्थ के अन्तःध्यान आदि विकारों से बचकर अधिक से अधिक समय तत्त्वाभ्यास करना चाहिए।

जीवन के अंतिम सफर में आप को दिल्ली में विशिष्ट स्वाध्यायी एवम् अध्यात्म रुचि संपन्न सधर्मियों का सुंदर समागम मिला। आप धर्मपुरा- दिल्ली के नये जैन पंचायती मंदिर में तत्त्वगोष्ठी करते थे। महाकवि ने वि.सं. १६०१ में माघ कृष्ण चतुर्दशी को दिल्ली के अनेक साधर्मि बंधुओं के साथ आपने तीर्थराज सम्मेद शिखर की यात्रा भी की थी, जैसा कि दौलत विलास के पद ७८ से ज्ञात होता है-

"आज गिरिराज निहारा, धन भाग हमारा।"

आपका स्वर्गावास लगभग ६८ वर्ष की अवस्था में दिल्ली में मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, वि.सं. १६२३ (सन् १८८६) में, बड़े ही शांत भावों से- समाधि पूर्वक हुआ। आपको अपनी मृत्यु का छह दिन पूर्व ही आभास हो गया था।

"आज से छठे दिन मध्याह्न के पश्चात् मैं इस शरीर से निकल कर अन्य शरीर धारण करूँगा, अतः आप सबसे क्षमायाचना कर समाधिमरण ग्रहण करता हूँ।" (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ ४/२८९)

कर्तृत्व- कविवर दौलतराम का स्थान मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों में सर्वोपरि है। आपका काव्य यद्यपि परिमाण की दृष्टि से अत्यल्प है, परंतु गुणवत्ता की दृष्टि से वह सर्वथा अद्वितीय एवम् अनुपमेय है। भाव एवम् शिल्प दोनों ही दृष्टियों से वह सर्वथा अद्भुत व समीचीन है-

"भाव-भाव क्या शब्द-शब्द पर भविजन मन बलिहारी।
है 'वीरेन्द्र' सूर्य राशि जब तक, तब तक कीर्ति तुम्हारी ॥"

रचनाएँ

आपने ग्रंथों की रचना ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली में की। प्रत्येक रचना में अध्यात्म का ही अद्भुत रस विद्यमान है।

आपकी प्रमुख रचनाएँ निम्नवत् हैं-

छहढाला- संपूर्ण कृति में सोरठा, चौपाई, पद्धरि,

नरेन्द्र, दोहा, रोला, चाल व हरिगीतिका के कुल ९६ छन्द हैं जो भाव के साथ-साथ कलात्मक दृष्टि से भी अतीव उत्कृष्ट हैं। जैन धर्म के मर्म का सार यह काव्य ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली में है। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना प्राचीन विद्वान् पण्डित बुधजन की छहढाला कृति के आधार पर वैशाख शुक्ल तृतीय (अक्षय तृतीया) वि.सं. १८९१ को पूर्ण हुई।

इस कालजयी रचना में संसारी जीव के भ्रमण की कथा है तथा किस प्रकार यह जीव संसार रूपी समुद्र को पार कर के मोक्ष पद प्राप्त कर सकता है- इसका मार्ग भी सुगमता से बताया गया है। इस कृति में ६ ढाल (अधिकार) हैं। सर्वप्रथम "वीतराग विज्ञान" को "तीन भुवन में सार" एवम् "शिवस्वरूप शिवकार" बताते हुए "त्रियोग" से नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् पहली ढाल में मोक्षमार्ग एवम् सम्यक् दर्शन का विशेष कथन है। चौथी ढाल में सम्यक् ज्ञान एवम् एक देश चरित्र का वर्णन है। पाँचवीं ढाल में वैराग्य जननी बारह भावनाओं का चिंतन है और छठी ढाल में सकल चारित्र अथवा

मुनिदशा का वर्णन करते हुए मोक्षदशा का वर्णन किया है और अंत में रागरूपी आग को त्याग करने की सीख देते हुए ग्रंथ-समापन की सूचना है।

छहढाला एक समीक्षा- छहढाला की पहली ढाल में 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के आद्य तीन अध्यायों का सार-संक्षेप दूसरी ढाल में आ गया है। इसीप्रकार नौवें अध्याय का प्रारंभ "आत्मा का हित मोक्ष ही है" से हुआ है उसी प्रकार तीसरी ढाल का प्रारंभ "आत्मा को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए" पंक्ति से हुआ है।

छहढाला और मोक्षमार्ग प्रकाशक की इस समानता की विवेचना से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य इंगित होता है कि छहढाला की तीसरी, चौथी, पाँचवी एवम् छठवीं ढाल का आश्रय लेकर उसका विस्तार करते हुए इस अपूर्ण मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ का दूसरा भाग लिखकर पूर्ण करने का दायित्व कोई शोधार्थी मनीषी विद्वान् ले ले तो जिज्ञासुओं की मोक्षमार्ग के स्वरूप की पिपासा संतृप्त हो सकती है।

माजिक मूर्तिकुंज, कमला बाजार,
सासनी-२०४२१६ (हाथरस) उ.प्र.

भगवान् अरनाथ

जम्बूद्वीप संबंधी भरत क्षेत्र के कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर नगरी में सोमवंशी, काश्यपगोत्री महाराजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम मित्रसेन था। उस महारानी ने मगशिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में जयन्त विमानवासी अहमिन्द्र को तीर्थकर सुत के रूप में जन्म दिया। श्री कुन्थुनाथ तीर्थकर के तीर्थ के बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य का चौथाई भाग बीत गया तब श्री अरनाथ भगवान् का जन्म हुआ। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी। भगवान् अरनाथ की आयु चौरासी हजार वर्ष की थी, तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर और सुवर्ण के समान उनकी कान्ति थी। कुमार अवस्था के जब इक्कीस हजार वर्ष बीत गये तब उनके पिता ने उन्हें राज्य सौंप दिया। वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप में शासन करते रहे। आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हो जाने पर चक्रवर्ती के योग्य संपूर्ण वैभव उन्हें प्राप्त हुआ। इस प्रकार भोगोपभोग रूप सुख का अनुभव करते हुए आयु का तीसरा भाग अर्थात् जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु शेष थी तब किसी एक दिन शरद ऋतु के मेघों का विलय हो जाना देखकर वे वैराग्य को प्राप्त हुए। जिससे उन्होंने अपने अरविन्द नामक पुत्र के लिए राज्य-भार सौंप दिया और मगशिर शुक्ला दशमी के दिन सहेतुक वन में तैला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन चक्रपुर नगर में नृपति अपराजित ने उन्हें आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। इस तहर छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष और बीत जाने पर वे मुनिराज अपने ही दीक्षा वन में कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन बेला का नियम लेकर आम्र वृक्ष के नीचे ध्यानलीन हुए और घातिया कर्म नष्टकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के समवशरण की रचना हुई जिसमें पचास हजार मुनि, साठ हजार आर्यिकार्ये, एक लाख साठ हजार श्रावक, तीन लाख श्राविकार्ये, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। अनेक देशों में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए जब एक माह की आयु शेष रह गई तब वे भगवान् सम्मेदाचल पर पधारे और वहाँ एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के पूर्व भाग में अघातिया कर्मों का क्षयकर मोक्ष प्राप्त किया।

मुनि श्री समतासागरकृत 'शलाकापुरुष' से साभार

“१८५७ के महासमर के दो जैन महानायक”

डॉ. (श्रीमती) ज्योति जैन

आया फिरंगी दूर से, ऐसा मंतर मारा
लूटा दोनों हाथों से, प्यारा वतन हमारा
आज शहीदों ने है तुमको, अहले वतन ललकारा
तोड़ो गुलामी की जंजीरें, बरसाओ अंगारा
हिन्दु मुसलमां सिख, हमारा भाई, भाई प्यारा
यह है आजादी का झण्डा इसे सलाम हमारा
देश को अंग्रेजों (फिरंगियों) से मुक्त कराने में
१८५७ की क्रांति में इंकलाबियों का यह प्रिय गीत था।

१८५७ का स्वातंत्र्य समर भारतीय राजनैतिक इतिहास की ऐसी घटना है जिसे स्मरण कर आज भी दिलों में जोश आ जाता है। इतिहास का यह सुनहरा पृष्ठ हमारी राष्ट्रीय चेतना और अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है। आज जब हम १८५७ के महासंग्राम की १५०वीं जयंती मना रहे हैं तो अतीत का स्मरण करना स्वाभाविक है। ऐतिहासिक दस्तावेजों, घटनाओं, कहानियों, महानायकों के बलिदानों और जन-जन की भावनाओं आदि को लेखन के माध्यम से जितना जाना, आज यही सब सोचकर-जानकर सभी गौरवान्वित हो रहे हैं कि हमारा अतीत राष्ट्रीयता की भावना से सराबोर था।

इतिहास विशेषज्ञों के १८५७ की क्रांति के संबंध में अपने-अपने तथ्य हैं, राय है। कालमार्क्स ने इसे '१८५७ का स्वतंत्रता संग्राम' नाम दिया। अंग्रेज ऑफिसर थामस ने लिखा है कि इस संग्राम में हिन्दुस्तानी जनता की जबरदस्त एकता देखने को मिली। १८५७ का यह समर हर स्तर पर लड़ा गया। एक ओर अनेक राजा, महाराज, बादशाह, नबाब, जमींदार, ताल्लुकेदार आदि रहे तो दूसरी ओर किसान, भिश्ती, मजदूर, हलवाई, कहार, तेली, बर्दई, सफाई कर्मचारी आदि का भी सक्रिय सहयोग रहा। लोक कलाकारों ने नृत्य, गायन, वादन आदि के द्वारा अपना सहयोग दिया। महिलाओं ने भी अपनी महनीय भूमिका निभायी। विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने एवं विदेशी शासकों को देश से खदेड़ने का यह जबरदस्त अभियान था। अनेक संघर्ष हुए, भयंकर रक्तपात हुआ। अनेक माताओं की गोदें सूनी हो गयीं तो बहुतां का सिंदूर पुछ गया। इस स्वातंत्र्य समर में सभी जाति एवं धर्मों के लोगों ने अपना योगदान दिया। समस्त दस्तावेज एवं इतिहास इस

जंगे आजादी और उसके प्रयासों की कहानी स्वयं कह रहे हैं। इतिहास का दुखद पहलू यह भी है कि अनेक इतिहासकारों ने इसे मात्र कुछ सैनिकों की अनुशासनहीनता या विद्रोह का नाम दिया है पर ऐसा लिखा जाना तो क्या सोचना भी उन हजारों, लाखों देशभक्तों के साथ बेइंसाफी होगी, जिन्होंने इस महासमर में अपनी जान की बाजी लगा दी थी।

१८५७ के क्रांतियज्ञ का सूत्र ईस्ट इंडिया कंपनी की उस नीति को माना गया जिसमें चिकनाई युक्त कारतूस, जिसके खोल को, सिपाहियों को मुँह से खोलना पड़ता था। सिपाहियों में यह बात फैल गयी थी कि इसमें गाय और सुअर की चर्बी होती है। कंपनी के सैनिक, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों थे की भावना को जबरदस्त ठेस पहुँची, फलस्वरूप सिपाहियों ने बगावत का झण्डा बुलंद किया। मंगल पाण्डेय को फांसी की सजा देने के बाद देश के एक बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। मेरठ से देशी सिपाहियों ने दिल्ली कूच किया। देश में चारों तरफ इस क्रांति की लहर फैलती जा रही थी। देशभर में व्याप्त गरीबी, तबाही, भुखमरी ने इस बागवत को और भी भड़का दिया। रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, मौलवी अहमद शाह, तात्याटोपे, बेगम हजरत महल सहित अनेक देश भक्त नेता इस संग्राम से जुड़ गये सभी ने दिल्ली के बादशाह बहादुर शाह जफर को हिन्दुस्तान का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। बादशाह जफर ने भी इस जिम्मेदारी को मंजूरी दी और फिरंगी राज के विरोध में घोषणा पत्र जारी किया।

१८५७ की क्रांति के दौरान अंग्रेज सरकार ने सख्त कदम उठाये। देशभक्तों के साथ बदसलूकी की गयी, सरे आम कोड़े लगाये गये, जिसका भी थोड़ा सम्बन्ध राष्ट्र-भक्तों से था उसे सरे आम फांसी लगा दी गई। इस समर में अनेक लोगों की कुर्बानी हुई अपने अदम्य साहस और जांबाजी से प्रत्येक योद्धा जन नायक बन गया। १८५७ के १५० वर्ष होने के उपलक्ष्य में वर्षभर कार्यक्रम आयोजित होते रहेंगे और इनमें जो दस्तावेज और तथ्य सामने आयेगें तब हमें इसकी महत्ता का पता चलेगा।

जैन धर्मावलम्बियों ने सदैव कंधा मिलाकर देश के स्वाधीनता संग्राम में साथ दिया। १८५७ के इस संघर्ष में

अनेक लोगों ने अपना सर्वस्व होम कर दिया। यहाँ हम १८५७ के उन दो जैन महानायकों का स्मरण करेंगे जो अपना सब कुछ देश पर न्योछावर कर शहीद हो गये।
अमर शहीद लाला हुकुम चन्द जैन

अमर शहीद लाला हुकुम चन्द जैन ने १८५७ के कान्तियज्ञ में अपने जीवन की आहुति दे दी। लाला हुकुमचन्द जैन का जन्म १८१६ में हांसी (हिसार) हरियाणा के प्रसिद्ध कानूनगो परिवार में श्री दूनीचन्द जैन के यहाँ हुआ। जन्मजात प्रतिभा के धनी हुकुमचन्द जी की फारसी और गणित में विशेष रूचि थी। इन विषयों पर आपने कई पुस्तकें भी लिखी। अपनी शिक्षा और बहुमुखी प्रतिभा के बल पर आपने मुगलबादशाह बहादुर शाह जफर के दरबार में उच्चपद प्राप्त कर लिया। बादशाह से आपके मधुर संबंध थे। आप सात वर्ष तक मुगल बादशाह के दरबार में रहे थे। श्री जैन उच्चकोटि के दानी, उदार और परोपकारी थे। आपने गांवों में मन्दिरों, कुओं और तालाबों का निर्माण कराया। अनेक टूटे मंदिरों का जीर्णोद्धार भी कराया।

१८५७ में जब स्वतंत्रता संग्राम का बिगुल बजा तब लाला हुकुमचन्द की देश प्रेम भावना अंगड़ाई लेने लगी। दिल्ली में आयोजित देश भक्त नेताओं के उस सम्मेलन में, जिसमें तात्या टोपे, बहादुर शाह जफर आदि उपस्थित थे, हुकुमचन्द जी भी उपस्थित थे। आपने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने की पेशकश की। आपने उपस्थित नेताओं और बहादुर शाह जफर को विश्वास दिलाया कि वे इस स्वतंत्रता संग्राम में अपना तन-मन और धन सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हैं। मुगल बादशाह ने भी हर तरह की युद्ध सामग्री सहायता स्वरूप भेजने का आश्वासन दिया।

हांसी पहुँचते ही हुकुमचन्द ने देशभक्त वीरों को एकत्रित किया और जब अंग्रेज सेना दिल्ली कूच कर रही थी तब हांसी से गुजरते हुए उस पर हमला किया, भारी लड़ाई हुई पर आपके पास युद्ध सामग्री थोड़ी थी और बादशाह की सहायता भी नहीं पहुँच पायी। पर आप हतोत्साहित नहीं हुए। लाला हुकुमचन्द एवं उनके साथी मिर्जा मुनीर बेग ने एक पत्र गुप्तरूप से फारसी भाषा में बादशाह को लिखा जिसमें अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में साथ देने का विश्वास दिलाया और अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा के भाव व्यक्त किये।

दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। बादशाह की व्यक्तिगत फाइलों की जांच के दौरान लाला हुकुमचन्द

और मिर्जा मुनीर बेग के हस्ताक्षरों वाला पत्र अंग्रेजों के हाथ लग गया। तब इनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने का आदेश दिया गया। पत्र पाते ही हिसार कलेक्टर एक सैनिक दस्ते को लेकर हांसी पहुँचे और लाला हुकुमचन्द एवं मिर्जा मुनीर बेग के मकानों पर छापे मारे। दोनों को गिरफ्तार किया साथ में हुकुमचन्द के तेरह साल के भतीजे फकीरचन्द को भी गिरफ्तार कर हिसार लाकर उन पर मुकदमा चलाया गया। एक दिखावटी सी कार्यवाही करके १८ जनवरी, १८५८ को हिसार के मजिस्ट्रेट ने लाला हुकुमचन्द और मिर्जा मुनीर बेग को फांसी की सजा सुना दी और फकीरचन्द को छोड़ दिया।

१९ जनवरी, १८५८ को लाला हुकुमचन्द और मिर्जा मुनीर बेग को लाला हुकुमचन्द के मकान के सामने फांसी दे दी गई। क्रूरता की पराकाष्ठा तो तब हुई जब लाला जी के भतीजे फकीर चन्द, जिसे अदालत ने रिहा कर दिया था, उसे भी पकड़कर फांसी पर लटकवा दिया गया। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम १८५७ के इतिहास का यह क्रूरतम अध्याय था। अंग्रेजों ने उनके शव अंतिम संस्कार हेतु भी नहीं दिये बल्कि उनकी भावनाओं को आहत करते हुए लाला जी के शव को दफनाया गया और मिर्जा मुनीर बेग के शव को जलाया गया। लाला जी की अटूट संपत्ति को कौड़ियों के भाव नीलाम कर दिया गया।

लाला हुकुमचन्द की स्मृति में हांसी नगरपालिका ने १९६१ में अमर शहीद हुकुमचन्द पार्क बनवाया है, जिसमें लाला जी की आदमकद प्रतिमा लगवायी गई है।
अमर शहीद अमर चंद बांठिया (जैन)

स्वाधीनता संग्राम १८५७ में अनगणित देश प्रेमियों ने अपनी कुर्बानी दी। तत्कालीन ग्वालियर राज्य के कोषाध्यक्ष अमरचन्द बांठिया ऐसे ही देश भक्त महापुरुष थे। १८५७ के महासमर में जूझ रहे क्रांतिवीरों को संकट के समय आर्थिक सहायता देकर आपने स्वाधीनता के स्वर्णिम इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया।

अमर शहीद अमरचन्द बांठिया में धर्मनिष्ठा, दानशीलता, सेवा भावना, ईमानदारी, कर्तव्य परायणता आदि गुण जन्मजात थे। यही कारण था कि उन्हें ग्वालियर राज्य के प्रधान राजकोष गंगाजली का प्रधान कोषाध्यक्ष बनाया गया। गंगाजली में अटूट धनसंचय था जिसका अनुमान सिंधिया नरेशों को भी नहीं था। विपुल धनराशि से भरे इस खजाने पर चौबीसों घंटों सशस्त्र पुलिस का

पहरा रहता था। खंजाची होने के कारण बांठिया जी का परिचय सभी बड़े राज्याधिकारियों से था। आपसी चर्चा के दौरान अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर अत्याचार की बातें भी होती थी। अत्याचार की घटनाओं को सुन-सुन कर बांठिया जी का हृदय तड़प उठता था और देश के लिए कुछ करने की भावना बलवती होने लगती थी। उनके दृढ़निश्चय और मातृभूमि के प्रेम ने रानी लक्ष्मीबाई की क्रांतिकारी सेनाओं को सहायता करने का निर्णय ले लिया।

१८५७ की क्रांति के समय रानी लक्ष्मीबाई, उनके सेना नायक राव साहब, तात्याटोपे आदि क्रांतिकारी ग्वालियर के रणक्षेत्र में अंग्रेजों के विरुद्ध डटे हुए थे परंतु लक्ष्मीबाई के सैनिकों और ग्वालियर के विद्रोही सैनिकों को कई माह से वेतन नहीं मिला था, न ही राशन-पानी का समुचित प्रबंध हो सका था। तब बांठिया जी ने अपनी जान की परवाह न करते हुए क्रांतिकारियों की मदद की और राजकोष का द्वार खोल दिया। सैनिकों को पाँच-पाँच माह का वेतन वितरित किया गया। बांठिया जी के इस साहसिक निर्णय के पीछे उनकी अदम्य देशभक्ति की भावना छिपी हुई थी परंतु अंग्रेजी शब्दकोश में इसका अर्थ था 'देशद्रोह'

या 'राजद्रोह' और उसका प्रतिफल था सजाए मौत। बांठिया जी से प्राप्त इस सहायता से क्रांतिकारियों के हौसले बुलंद हो गये और अंग्रेजों के दांत खट्टे कर दिये पर रानी लक्ष्मीबाई लड़ते-लड़ते शहीद हो गयी। रानी लक्ष्मीबाई के बलिदान के चार दिन बाद ही २२ जून १८५८ को ग्वालियर में ही राजद्रोह के अपराध में न्याय का ढोंग रचकर लश्कर के भीड़ भरे सर्राफा बाजार में नीम के पेड़ से लटकाकर अमरचन्द बांठिया को फांसी दे दी गई और कठोर चेतावनी के रूप में उनका शरीर तीन दिनों तक लटकाये रखा गया। ग्वालियर के सर्राफा बाजार में अमरचन्द बांठिया का एक स्टेच्यू स्थापित किया गया है। इसप्रकार इस महानायक ने १८५७ के स्वातन्त्र्य समर की मशाल जलाये रखने के लिए कुर्बानी दे दी।

१८५७ की इस १५० वीं जयंती पर इन सपूतों पर जैन समाज ही नहीं संपूर्ण भारतीय समाज गर्व करता है और उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि देता है।

शिक्षक आवास ६,
कुंदकुंद जैन महाविद्यालय परिसर,
खतौली २५१२०१ (उ.प्र.)

भगवान् मल्लिनाथ

जम्बूद्वीप संबंधी भरत क्षेत्र के बंग देश में मिथिला नगरी का स्वामी इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री, कुम्भ नाम के राजा राज्य करते थे, प्रजावती नाम की उनकी रानी थी। उस महारानी ने मगशिर शुक्ल एकादशी के दिन अपराजित विमानवासी अहमिन्द्र को तीर्थकर सुत के रूप में जन्म दिया। अरनाथ तीर्थकर के बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर भगवान् मल्लिनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु इसी में शामिल थी पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी, पच्चीस धनुष ऊँचा शरीर था और सुवर्ण के समान उनके शरीर की कांति थी। कुमारकाल के सौ वर्ष बीत जाने पर एक दिन भगवान् मल्लिनाथ ने देखा कि समस्त नगर हमारे विवाह के लिए सजाया गया है। इस प्रकार नगर की साज सज्जा देखकर उन्हें पूर्वजन्म के अपने अपराजित विमान का स्मरण आ गया। जातिस्मरण होने से वैराग्य को प्राप्त कुमार मल्लिनाथ स्वामी ने अगहन शुक्ल एकादशी के दिन सांयकाल के समय श्वेत वन में पहुँच कर बेला का नियम ले तीन सौ राजाओं के साथ जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। महामुनि मल्लिनाथ पारणा के दिन मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ सुवर्ण के समान कान्ति वाले नन्दिषेण राजा ने उन्हें आहारदान देकर पञ्चाश्र्वर्य प्राप्त किये छद्मस्थ अवस्था के छह दिन व्यतीत हो जाने पर वह उसी दीक्षा वन में अशोक वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानलीन हुए और मगशिर शुक्ल एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के समवशरण की रचना हुई जिसमें चालीस हजार मुनि, पचपन हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए जब उनकी आयु एक माह की शेष रह गई तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे और वहाँ पाँच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया तथा फाल्गुन शुक्ल सप्तमी के दिन संध्या के समय अघातिया कर्म नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया।

मुनि श्री समतासागरकृत 'शलाकापुरुष' से साभार

जिज्ञासा-समाधान

पं. रतनलाल बैनाड़ा

प्रश्नकर्ता- सौ. कल्पना शाह, सांगली

जिज्ञासा- स्वर्गों में अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है?

समाधान- सिद्धांतसार दीपक १५/२०१-२१२ के आधार से स्वर्गों में अवधिज्ञान का क्षेत्र इस प्रकार है-

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग- पहली पृथ्वी तक

सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग- दूसरी पृथ्वी तक

पांचवें से आठवें स्वर्ग तक- तीसरी पृथ्वी तक

नौवें से बारहवें स्वर्ग तक- चौथी पृथ्वी तक

तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक- पांचवी पृथ्वी तक

नवग्रैवेयक के अहमिन्द्र- छठी पृथ्वी तक

९ अनुदिश तथा ५ अनुत्तर के अहमिन्द्र-सातवीं पृथ्वी तक

५ अनुत्तरवासी अहमिन्द्र- संपूर्ण लोकनाडी

जिज्ञासा- जम्बू वृक्ष तथा शाल्मली वृक्ष का स्वरूप बतायें।

समाधान- करणानुयोग के विभिन्न शास्त्रों के आधार से प्रश्न का समाधान इस प्रकार है-

(१) **जम्बू वृक्ष-** नील कुलाचल के समीप, सीता नदी के पूर्व तट पर मेरु पर्वत की ईशान दिशा में, उत्तर कुरु क्षेत्र के कोने में, जामुन वृक्ष के आकार के समान, शाश्वत, पृथ्वी काय, उत्तम रत्न एवं मणियों से बना हुआ एक महान् जंबूवृक्ष स्थित है। इसकी प्रथम पीठिका ५०० योजन विस्तृत, मध्य में ८ योजन ऊँची और अंत में आधा योजन ऊँची है। इस पीठिका के मध्य में ८ योजन ऊँची एक स्वर्णमय पीठिका है जिसका मूल व्यास १२ योजन, मध्य ८ योजन और अग्रभाग का व्यास ४ योजन प्रमाण है। इस पीठ के मध्य भाग में, ऊपर तीन छत्रों से अंचित, वज्रमय स्कंध, उत्तम वैडूर्य रत्नों के पत्र एवं फलों से संकुलित अनेक लघु जंबूवृक्षों के मध्य में महादैदीप्यमान जंबूवृक्ष है। उस वृक्ष के अर्धभाग से चार शाखायें निकलती हैं। इनमें से उत्तर दिशा संबंधी शाखा पर यक्षों से निरंतर पूज्य, वंदनीय एवं स्तुत्य, शाश्वत अर्थात् अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। शेष ३ शाखाओं पर जंबूद्वीप का रक्षक अनावृत नाम का देव अपनी परम विभूति के साथ निवास करता है।

(२) **शाल्मली वृक्ष-** सुदर्शन मेरु की नैऋत्य दिशा में, सीतोदा नदी के पश्चिम तटपर, निषध कुलाचल के

समीप देव कुरु क्षेत्र में जंबूवृक्ष के समान उत्सेध, आयाम एवं विस्तार से युक्त शाल्मली वृक्ष है। इसकी दक्षिण शाखा पर वेणुधारी आदि देवों द्वारा पूज्य और अनेक जिनबिबों से संकुलित रत्नमय अकृत्रिम जिनालय हैं। शेष तीन शाखाओं पर वेणु नाम का महान् देव निवास करता है।

प्रश्नकर्ता- पं. विनय कुमार शास्त्री, जबलपुर

जिज्ञासा- क्या सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्चारित्र होने का नियम है या नहीं?

समाधान- सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्चारित्र का अविनाभावी संबंध नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन तो होता है परंतु सम्यक्चारित्र नहीं होता। आगम में सम्यक्चारित्र के तीन भेद कहे हैं और उनके गुण स्थान इस प्रकार बताये गये हैं।

१. औपशमिक चारित्र- गुणस्थान ८ से ११ तक।

२. क्षायिक चारित्र- गुणस्थान ८ से १४ तक।

३. क्षायोपशमिक चारित्र- गुणस्थान ६ एवं ७।

इसके अलावा संयमासंयम रूप देश चारित्र, मात्र पांचवें गुण स्थान में होता है।

उपरोक्त के अलावा जो सामायिक आदि ५ प्रकार का चारित्र कहा है, वह भी मात्र मुनिराजों के ही होता है। इसप्रकार चतुर्थ गुणस्थान में कोई भी संयम रूप सम्यक्-चारित्र नहीं होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्-चारित्र का अविनाभावी संबंध नहीं है। इस संबंध में आचार्यों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं जो इस प्रकार हैं-

१. श्री राजवर्तिक में इस प्रकार कहा है-

“सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम्”

अर्थ- सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर चारित्र भजनीय है अर्थात् चारित्र प्राप्त हो भी, और न भी हो।

२. श्री उत्तर पुराण में इस प्रकार कहा है-

समेत मेव सम्यक्त्व ज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।

स्यातां विनापि ते तेन, गुणस्थान चतुर्थके। ७४-५४३।

अर्थ- सम्यक्चारित्र तो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान सहित ही होता है। परंतु चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के बिना ही होते हैं।

३. श्री प्रवचनसार की टीका में, आ. अमृतचन्द्र ने

कहा है-

संयम शून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । २३७

की टीका

अर्थ- संयम शून्य, श्रद्धा व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती।

प्रश्नकर्ता- सौ. अनिता जैन, कोल्हापुर

प्रश्न- गृहस्थ श्रावक का कितना धन दान में देना श्रेष्ठ है?

समाधान- इस प्रकरण में श्री 'धर्मरत्नाकर' पृष्ठ ३६१ पर इस प्रकार कहा है-

तूर्यांशो वा षडंशो वा, दशांशो वा निजार्थतः ।

दीयते या तु सा शक्ति वर्या मध्या कनीयसी । १४३१-२५ ।

अर्थ- अपनी दैनिक आय में से चतुर्थ भाग (२५%) छठा भाग (१७%) अथवा दसवें भाग (१०%) का जो सत्पात्रदानादि में सदुपयोग किया जाता है, उसे यथाक्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य शक्ति जानना चाहिये।

इसी ग्रंथ के पृष्ठ ४४ पर उपर्युक्त प्रकार ही लिखा है। साथ में यह भी लिखा है कि जो पुरुष लक्ष्मीवान् होकर भी इस प्रतिशत से कम दान देता है उसे धार्मिक जन दाता लोगों में कुछ भी नहीं गिनते।

प्रश्न- संकल्प और विकल्प में क्या अंतर होता है?

समाधान- श्री परमात्म प्रकाश गाथा १६ की टीका में श्री ब्रह्मदेव ने इस प्रकार कहा है-

“बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादि चेतनाचेतनरूपे ममेद-मिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादि चित्त गतो हर्षविषादि परिणामो विकल्प इति।”

अर्थ- बहिरंग वस्तु पुत्र, स्त्री आदि चेतन तथा अचेतन के विषय में, 'ये मेरे हैं' ऐसा ममत्व परिणाम संकल्प कहलाता है। तथा मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि चित्त में होने वाले हर्ष विषादादि रूप परिणामों को विकल्प कहा जाता है।

इस प्रकार इन दोनों में अंतर पाया जाता है।

प्रश्नकर्ता- श्री अरविंद कुमार जैन सी.ए., इंदौर

प्रश्न- क्या शास्त्रों में रात्रि भोजन करने को मांस भक्षणवत् कहा है या वर्तमान में कुछ साधु तथा विद्वान्, अतिशयोक्ति करते हुये कहते हैं?

समाधान- श्रावक के आचरण के संबंध में, श्रावकाचार ग्रंथों में भलीप्रकार वर्णन किया गया है। रात्रि भोजन करने में त्रस जीवों की हिंसा भी होती है और त्रस

जीवों के खाने में आ जाने से मांसभक्षणवत् दोष भी होता ही है। इस संबंध में शास्त्रों के निम्न प्रमाण दृष्टव्य हैं-

(१) श्री सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह पृष्ठ १६६ पर कहा है-

पतंति वहवो जीवा, अन्न भाजन वध्निषु ।

मांस दोषस्तथा हिंसा, तस्मात् त्याज्यं निशा शनं । ४६ ।

अर्थ- रात्रि में अन्न के बर्तन तथा अग्नि आदि में अनेक जीव पड़ते हैं। जिससे मांस खाने का दोष तथा हिंसा होती है। अतः रात्रि भोजन छोड़ने के योग्य है। ४६ ।

(२) श्री पदमकृत श्रावकाचार में रात्रि भोजन के संबंध में पृष्ठ ४३ पर इस प्रकार कहा है-

रात्रि भोजन जो कीजीइए, तो ते जीव हुये भक्ष ।

मांस आहार सम ते सहीए, दूषण दीसे समक्ष । ५६ ।

अर्थ- रात्रि भोजन जो करता है वह उन त्रस जीवों को भी खा लेता है। अतः वह रात्रि भोजन मांस आहार के समान ही है। उसीतरह का दूषण सामने ही दिखता है।

(३) रात्रि भोजन का वर्णन करते हुये 'दौलतराम कृत क्रियाकोष' में पृष्ठ ३८२ पर इस प्रकार कहा है-

मांस अहारी सारिखे, निशि भोजी मतिहीन ।

जनम या पाप तें, लहें कुगति दुखदीन । ९८ ।

अर्थ- जो बुद्धिहीन पुरुष रात्रि भोजन करते हैं वे मांसाहारी के समान ही हैं। इस पाप के कारण वे जन्म-जन्म में दुःखी और दीन होते हुये कुगति को प्राप्त करते हैं।

(४) 'लाटी संहिता' में रात्रि भोजन के संबंध में इस प्रकार कहा है-

प्रियन्ते जन्तवस्तत्र झंपापातात्ममक्षतः ।

तत्कलेवर सम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् । ५२ ।

अर्थ- वह त्रस जीवों का समुदाय जरा सी हवा का झकोरा लगने मात्र से ही अपने देखते-देखते मर जाता है तथा उनका कलेवर उड़-उड़ कर सब भोज्य में मिल जाता है। ऐसी हालत में रात्रि भोजन का त्याग न करने वालों के मांस का त्याग कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता अर्थात् उनके मांस भक्षण के समान ही दोष लगता है।

जैनों के कुलाचार में इसीलिये रात्रि भोजन त्याग माना गया है। उपरोक्त प्रमाणों पर अच्छी तरह गौर करके पढ़ने और चिंतन के बाद, जैन मात्र को रात्रि भोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिये।

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,

आगरा - 282002 (उ.प्र.)

एक अनुपम आयोजन श्रुताराधना शिविर

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, वरिष्ठ संपादक-‘पार्श्व ज्योति’

परमपूज्य संतशिरोमणि १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज इस युग में दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति के प्रभावक निर्विवाद आचार्य हैं, जिनकी ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्या की ख्याति संपूर्ण भारतवर्ष में विख्यात है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से आकलन किया जाये तो कोई भी व्यक्ति उनकी मुनिचर्या पर अंगुली नहीं उठा सकता। क्षिद्रान्वेषी लोगों को छोड़ दिया जाय तो सभी एक मत से उन्हें स्वीकार कर उनकी हर बात को निर्णायक मानने में विश्वास रखते हैं। विद्वानों की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के सान्निध्य में एक गोष्ठी ऐसी हो जो सैद्धान्तिक विषयों पर केन्द्रित हो तथा शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समाधान कारक सिद्ध हो। आरोप-प्रत्यारोप का माहौल न बने, किन्तु जिज्ञासाओं का भरपूर समाधान हो। पं. मूलचन्द लुहाड़िया तथा अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् के कोषाध्यक्ष पं. अमरचन्द जैन एवं मंत्री डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन ने इस शिविर की पहल की, जो सफल सिद्ध हुई।

दिनांक १४ से १६ मई, २००७ तक संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में अनेक गृहत्यागी ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों प्रतिभामण्डल की ८० बहिनों, ५० विद्वानों और उपस्थित श्रद्धालुओं ने पूज्य बड़े बाबा भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा और श्रीधर केवली की निर्वाणभूमि के रूप में जगत् विख्यात कुण्डलपुर में आचार्यश्री के दि. १३ मई को रविवारीय प्रवचन के साथ-साथ ६ अन्य प्रवचनों और व्यक्तिगत चर्चा के माध्यम से आगमिक सिद्धान्तों के साथ-साथ समसामयिक समस्याओं को बताकर समाधान खोजने का प्रयास किया। तीन दिवसीय इस शिविर को ‘श्रुताराधना शिविर’ का नाम दिया गया। अब तक प्रायः यह होता था कि ऐसे शिविरों में विद्वान् प्रवचन करते थे और समाज सुनती थी। यह पहली बार हुआ है कि समाज और विशेषरूप से विद्वानों ने परम पूज्य आचार्यश्री को सुना। तीन दिन में लगभग १६ घंटे आचार्यश्री का मार्गदर्शन/संबोधन मिलना विद्वानों एवं समाज के लिए सौभाग्य की बात है, जिसके लिए हम सब कृतज्ञ हैं। इस शिविर का आयोजन श्री दि.जैन तीर्थक्षेत्र प्रबंध

कमेटी, कुण्डलपुर ने किया, जिसके लिए अध्यक्ष सिंघई संतोषकुमार जैन, श्री वीरेश सेठ (मंदिर निर्माण प्रभारी), मंत्री श्री वीरेन्द्र बजाज, कोषाध्यक्ष श्री चन्द्रकुमार जैन एवं श्री नवीन जैन, श्री जयकुमार जलज सहित सभी पदाधिकारी एवं सदस्य बधाई के पात्र हैं।

दिनांक १४ मई को प्रायः स्मरणीय पूज्य बड़े बाबा भगवान् श्री आदिनाथ, आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज और ‘श्रुत स्कंध’ के चित्र अनावरण, दीप प्रज्वलन एवं पं. मूलचन्द लुहाड़िया के सविनय निवेदन के उपरांत आचार्यश्री ने अपने गुरु पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का स्मरण कर उन्हें जिनवाणी का सच्चा सेवक बताते हुए कहा कि उन्होंने मुझ जैसे अनगढ़ पत्थर को तराशने का कार्य किया। श्रुताराधना शिविर में दूर-दूर से आये विद्वानों के मध्य चर्चा करते हुए बताया कि काल द्रव्य निमित्त है वह प्रभावक या विधायक नहीं है। कुछ लोग प्रभावक होते हैं किन्तु सामने नहीं होते। आचार्य कुन्दकुन्द ने कभी काल को प्रभावक रूप में स्वीकार नहीं किया। काल का अर्थ है शून्य। काल जीवन नहीं है। आयुर्कर्म ही जीवन है। काल के प्रभाव को बताना पुरुषार्थ को धिक्कारना है। काल को पकड़कर जो दुःसाहस करते हैं वे मात्र पंथ चलाते हैं।

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की चर्चा करते हुए आपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की गाथाओं को उद्धृत करते हुए बताया कि जो क्षुधातृषादि १८ दोषों से रहित हैं वे ही सच्चे देव हैं। यही हमारे आराध्य हैं। दया और अहिंसा की जहाँ चर्चा होती है और मिथ्यादर्शन जिससे हटता है, देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान होता है, नव पदार्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की बात जहाँ होती है वह शास्त्र है, परन्तु आज तो लोगों के अपने-अपने शास्त्र हैं, ऐसी स्थिति में शास्त्र की कौन बात करे? सब अपनी-अपनी बात कह रहे हैं। इसलिए किसी भी बात को समझने के लिए मूल एवं संस्कृत टीका को अवश्य पढ़ना चाहिए। आज की स्थिति तो यह है कि जिसे भाषा का ज्ञान नहीं वे उपदेश दे रहे हैं। जिसे भाषा का ज्ञान नहीं उसे उपदेश का अधिकार

ही नहीं है। उपदेश के लिए शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ का ज्ञान जरूरी है। उन्होंने गुरु की परख के लिए शास्त्रों की परख को जरूरी बताया और कहा कि भावार्थ का ज्ञान जरूरी है। शास्त्रों में गुरु की परिभाषा स्पष्ट है।

दयाधर्म की चर्चा करते हुए आचार्यश्री ने बताया कि कुछ लोग हमारे पास आकर प्रश्न करते हैं कि आपके प्रवचन में दया की बात आती है आत्मा की नहीं? इस प्रश्न का समाधान देते हुए आचार्यश्री कहते हैं- 'दयामूलो भवेत् धर्मः' अर्थात् जहाँ मूल में दया होती है वहीं धर्म होता है। दया का आश्रय लो, मूल अपने आप मिल जायेगा। देव, शास्त्र, गुरु, षट् द्रव्य, नौ पदार्थ के साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की चर्चा को आगमपद्धति और आदि (प्रारंभ) से लेकर आगे बढ़ने को आपने अध्यात्म पद्धति बताते हुए कहा कि १६ वीं कक्षा तक प्रश्न क्रमबद्ध चलेंगे। इसके बाद व्यक्ति शोध करता है तो पुस्तकालय जाकर किसी भी पुस्तक की भाषा का उपयोग कर सकता है। अंत में सिद्धान्त आता है। दिनांक १५ मई को अपने प्रवचन में सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हुए बताया कि निश्चय सम्यग्दर्शन सीधे प्राप्त नहीं होता, उसके लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन आवश्यक है। प्रथम गुणस्थान में सब रहते हैं, शेष गुणस्थान अपनी अपनी योग्यता के अनुसार मिलते हैं। देव, शास्त्र, गुरु को देखकर जो उनकी आराधना करता है वही सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और वृद्धि होती है।

अनायतनों से बचकर आयतनों में आयेंगे तो नियम से सम्यग्दर्शन होगा। जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है वह रत्नत्रय प्राप्त करता है। यदि रत्नत्रय की वृद्धि करना है तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करना होगा। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। जिनबिम्ब के दर्शन में निःशंकितादि आठ अंगों की भावना का फल प्राप्त होता है। अनायतन और आयतन की चर्चा करते हुए आपने बताया कि जो देने योग्य नहीं हैं उनसे लेने की चाह करना अनायतन है और जो देव, शास्त्र, गुरु के रूप में हैं वे आयतन हैं। आयतन के पास शुभोपयोगी जाता है, अनायतन के पास अशुभोपयोगी। लेकिन इससे काम

नहीं चलेगा। मूल में तो वीतराग भाव या वीतरागता होनी चाहिए।

पंथवाद की चर्चा करते हुए पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने बताया कि पंथवाद पूजा पद्धति को लेकर है। पंथवादी को वीतराग संवेदन नहीं होता। पंथवादी पूजा पद्धति को लेकर खड़े हैं और आपस में लड़ रहे हैं। इन्हें जैनागम, जैनत्व, सच्चे देव से कोई लेना देना नहीं है। वे यह पूछते हैं कि पूजन किससे करें? कैसे करें? कोई यह नहीं पूछता कि पूजा किसकी करें? इसके प्रति जिज्ञासा ही नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने यह नहीं कहा कि कौन सम्यग्दृष्टि है, कौन मिथ्यादृष्टि? उन्होंने तो बताया कि जो क्षुत्पिपासा आदि १८ दोषों से रहित हैं वे ही देव हैं। कल्पवासी आदि आराध्य नहीं हैं। भवनत्रिक की आराधना कहीं नहीं कही है। सम्यग्दृष्टि यदि भवनत्रिक में जायेगा तो वहाँ वह मिथ्यादर्शन के साथ ही जायेगा किन्तु यह नियम नहीं है कि वह मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा। जहाँ कल्पवासी देवों में कुछ सम्यग्दृष्टि हैं कुछ मिथ्यादृष्टि। देवियाँ भी ऐसी ही होती हैं। इनमें कभी भी आराधना की बात नहीं कही। जिनबिम्ब के दर्शनों से निधत्ति और निकाचित कर्मों के क्षय भी देखे जाते हैं अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। जो देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान को सम्यग्दर्शन नहीं मानते हैं उन्हें दिग्म्बरत्व और तत्त्वार्थ सूत्र का ज्ञान नहीं है। इसके विपरीत जो कथन करता है वह सामाजिक विघटन का कारण बनता है। धन-दौलत चाहिए इसलिए 'नाम ले लो' ऐसा नहीं है। इस शिविर का उद्देश्य यही है कि शिविर लगाया है तो कुछ लेकर जाओ। विषय-कषायों में जो रम रहा है उनकी आराधना में यदि कोई लग गया तो वह अनायतन में चला गया। जो आयतनों में रहता है वह तो शुभोपयोगी होता है। वह सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को ही आश्रय बनाता है। दिनांक १६ मई को आचार्यश्री ने 'रत्नत्रय' के संबंध में विस्तार से विवेचन किया कि सम्यक् श्रद्धान (दर्शन), सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन पहलुओं पर चलना ही मोक्षमार्ग है।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज एवं आचार्य विद्यासागर जी महाराज की पूजन, आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के

३५वें समाधि दिवस के कारण ३५ शास्त्र भेंट तथा ३५ दीपकों से आचार्य विद्यासागर जी महाराज की आरती, नारेली से पधारे तीर्थक्षेत्र के पदाधिकारियों द्वारा श्री अशोक पाटनी (आर.के.मार्बल्स) एवं श्री मूलचन्द लुहाड़िया के नेतृत्व में आचार्यश्री से आगामी चातुर्मास के निवेदन हेतु श्रीफल भेंट करने के उपरांत हुए प्रभावी प्रवचन में आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य जयसेन और आचार्य अमृतचन्द्र को दिग्म्बर परम्परा का आचार्य बताते हुए जिनवाणी के सम्यक् ज्ञान हेतु टीकाओं को पढ़ने की प्रेरणा दी और बताया कि ग्रंथों के भावार्थ में गड़बड़ियाँ हुई हैं। जिनवाणी के प्रति यह व्यवहार ठीक नहीं है। मोक्षमार्ग पर चलना है, तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करना होगा। लेकिन आज कोई सिर्फ ज्ञान को लेकर चल रहा है तो कोई चारित्र को, कोई दर्शन को लेकर चल रहा है लेकिन जब तक ये तीनों समानरूप से एक नहीं हो जायेंगे तब तक प्रभाव नहीं दिखा पाते। जैसे अमृतधारा में कपूर, अजवायन और पिपरमेंट का होना जरूरी है उसी तरह मोक्ष के लिए रत्नत्रय का होना जरूरी है। आप लोग कूप (कुएं) से जल निकालते हो तो बाल्टी बाँधते हो, उसमें तीन रस्सियाँ होती हैं। तीनों रस्सियों की एकता से ही जल नीचे से ऊपर आ पाता है यदि अलग-अलग रखोगे तो ठीक नहीं रहेगा। जल ऊपर आते-आते नीचे चला जायेगा। (भारत वर्ष में जल वैसे भी नीचे जा रहा है- हँसी) इसलिए यदि मोक्ष चाहते हो तो रत्नत्रय का पालन करो। रत्नत्रय के संबंध में जो भी बोलो वह डंके की चोट पर बोलो। एक कुनेन की गोली से यदि मलेरिया ठीक हो जाये तो ठीक रहेगा नहीं तो मीठे से तो मलेरिया हो गया था। शुभोपयोग और अशुभोपयोग की चर्चा करते हुए आपने बताया कि शुभोपयोग वह है जो अशुभोपयोग से रहित है।

शुद्धोपयोग वह है जो अशुद्धोपयोग से रहित है। शुभ और अशुभ को एक मानने को आचार्य अमृतचन्द्र ने अमृत में विष घोलने के समान बताया है। आपने चुटकी लते हुए कहा कि अशुभोपयोग का इतना दुर्भाग्य नहीं है जितना शुभोपयोग का पिटना है। अशुभोपयोग से बचने के लिए आचार्यश्री ने सबसे पहले पाँच पापों का त्यागकर पाँच व्रत, समिति, त्रिगुप्ति और षट् आवश्यक पालने की प्रेरणा दी

जिससे शुभोपयोग हो सके। आचार्य अमृतचन्द्र ने शुभोपयोग को परम्परा से मोक्ष का कारण बताया है। वर्तमान की विकृतियों पर भी आचार्यश्री ने कई चुटकियाँ लीं। जैसे- १. मटाधीश बन जाओगे तो आहारचर्या समाप्त हो जायेगी। २. आहारचर्या समाप्त हो जायेगी तो मुनिचर्या समाप्त हो जायेगी। ३. सारी समितियाँ बदल रही हैं। ४. लोग शौचकूप की बात करते हैं, पीछी लेकर शौचकूप में कैसे जायेंगे? ५. आज नीहार और विहार समाप्त हो रहा है। ६. धर्म मार्ग चलो, ऊपर की (आगम) मानो यह हमारा आग्रह नहीं, सत्याग्रह है।

तीन दिनों तक छः सत्रों में चले इस शिविर में पूरी तरह से सैद्धान्तिक विषयों पर गहन चर्चा हुई। इस श्रुत आराधना शिविर में प्रमुखरूप से सर्वश्री पं. अमरचन्द्र जैन (कुण्डलपुर), पं. मूलचन्द लुहाड़िया (किशनगढ़), डॉ. रतनचन्द्र जैन (भोपाल), प्रा. निहालचन्द्र जैन (बीना), डॉ. रमेशचन्द्र जैन (बिजनौर), पं. निर्मल जैन (सतना), डॉ. राजेन्द्रकुमार जैन बंसल (अमलाई), डॉ. नेमिचन्द्र जैन (खुराई), ब्र. प्रदीप जैन सुयश (अशोकनगर), ब्र. पुष्पा दीदी (रहली), दमोह से डॉ. भागचन्द्र भागेन्दु, पं. अमृतलाल जैन, वाराणसी से डॉ. कमलेशकुमार जैन, डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी, डॉ. मुन्नी पुष्पा जैन, जयपुर से डॉ. शीतलचन्द्र जैन, डॉ. प्रेचमन्द रांवका, डॉ. सनतकुमार जैन, डॉ. अखिल बंसल, पं. राकेश जैन, खतौली से डॉ. कपूरचन्द्र जैन, डॉ. ज्योति जैन, मुरैना से पं. महेन्द्रकुमार जैन, डॉ. हरिशचन्द्र जैन, पं. पवन दीवान, ग्वालियर से श्री रवीन्द्र मालव, पं. अशोक शास्त्री, ईसरी से ब्र. कमल जैन, ब्र. पवन जैन, डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (सनावद), डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन (बुरहानपुर), ब्र. संजीव जैन (कटंगी), जबलपुर से पं. विराग शास्त्री, सुश्री नीरू जैन, अजमेर से श्री नरेन्द्रकुमार जैन, श्री अकलेश जैन, पं. कपूरचन्द्र पाटनी (गुवाहाटी), पं. इन्द्रसेन जैन (सहारनपुर), श्री रूपचन्द्र कटारिया (दिल्ली), श्री पी.सी. पहाड़िया (भीलवाड़ा), पं. सिद्धार्थ जैन (सतना), इन्दौर से ब्र. जिनेश मलैया, श्री निर्मल पाटोदी आदि देश के शीर्षस्थ विद्वानों/ पत्रकारों ने श्रुताराधना शिविर में सहभागी बनकर आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के श्रीमुख से श्रुतश्रवण का सौभाग्य अर्जित किया।

यह शिविर भविष्य के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होगा। संपूर्ण शिविर का विधिवत् संचालन/संयोजन अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् के मंत्री डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन के द्वारा श्रीमान् पं. मूलचन्द लुहाड़िया एवं पं. अमरचन्द्र जैन के मार्गदर्शन में किया गया।

दिनांक १४ मई को अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक डॉ. शीतलचन्द जैन (जयपुर) की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई जिसमें प्रमुखरूप से अनेकान्त मनीषी डॉ. रमेशचन्द्र जैन (बिजनौर) का अखिल भारतीय स्तर पर सम्मान एवं अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का निर्णय किया गया। दिनांक १५ मई को नवगठित अ.भा.जैन पत्र संपादक संघ का शपथ विधि समारोह एवं चिंतन बैठक संपन्न हुई। दिनांक १६ मई को आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा रचित नये शतक काव्य 'चैतन्य चन्द्रोदय' का विमोचन दानवीर श्री अशोक पाटनी (आर.के.मार्बल्स, किशनगढ़) ने किया। यहाँ उल्लेखनीय है कि आचार्यश्री के द्वारा रचित इस संस्कृत शतक काव्य के साथ हिन्दी पद्यानुवाद भी आचार्यश्री ने ही रचा है। इस काव्य का प्रकाशन अ.भा.दि.जैन

विद्वत्परिषद् की ओर से किया गया है। इसी क्रम में श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थक्षेत्र महिला, समिति, नारेली द्वारा प्रकाशित 'विद्या सुधा गुणाभिवन्दन' स्मारिका का विमोचन किया गया।

दिनांक १५ मई की रात्रि में कुण्डलपुर क्षेत्र कमेटी एवं मंदिर निर्माण समिति के पदाधिकारियों एवं विद्वानों तथा संपादकों के मध्य बड़े बाबा की मूर्ति के स्थानांतरण एवं मंदिर निर्माण विषयक खुली बातचीत हुई। जिसमें कमेटी की ओर से संपूर्ण तथ्य रखे गये। विद्वानों एवं संपादकों के प्रत्येक प्रश्न का सप्रमाण उत्तर दिया गया। दिनांक १६ मई को प्रातः सभी विद्वानों, संपादकों ने क्षेत्र कमेटी के साथ बड़े बाबा के पुराने एवं नवीन स्थल तथा वहाँ संग्रहीत मूर्तियों एवं अन्य वस्तुओं का अवलोकन किया। सभी इनकी सुरक्षा देखकर आश्चस्त हुए। इसतरह कुण्डलपुर तीर्थ क्षेत्र पर अनेक आयोजन होने से क्षेत्र पर आने वाले दर्शनार्थी अत्यन्त लाभान्वित हुए।

ए-२७, नर्मदा विहार,
सनावद - ४५११११ (म.प्र.)

कुम्भोज बाहुबली में शिविर सम्पन्न

परमपूज्य संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद से उनकी सुयोग्य शिष्य मंडली पूज्य मुनि श्री नियमसागर जी, मुनि श्री अक्षयसागर जी, मुनि श्री वृषभसागर जी, मुनि श्री सुपाशर्वसागर जी, मुनि श्री नेमिसागर जी आदि के ससंघ सान्निध्य में एवं श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर के अधिष्ठाता पं. रतनलाल बैनाड़ा के कुलपतित्व में 17 मई से 27 मई तक अतिशय क्षेत्र कुम्भोज बाहुबली (कोल्हापुर) महाराष्ट्र में 'सम्यग्दर्शन शिक्षण शिविर' का भव्य आयोजन हुआ।

इस दस दिवसीय धार्मिक शिक्षण शिविर में सम्पूर्ण महाराष्ट्र व कर्नाटक से लगभग 2200 शिविरार्थियों ने जैन धर्म शिक्षा (भाग 1, 2), छहढाला, रत्नकरण्डक श्रावकाचार तत्त्वार्थसूत्र और इष्टोपदेश का अध्ययन किया। पूज्य मुनि श्री नियमसागर जी द्वारा 'सम्यग्ज्ञान' पुस्तिका पर एवं मुनि श्री अक्षयसागर जी द्वारा छहढाला पर मार्मिक उपदेश दिया गया। सायंकालीन आरती के पश्चात् सभी शिविरार्थियों के लिए सामूहिक कक्षा में पं. सौरभ जैन, सांगानेर द्वारा इष्टोपदेश एवं करणानुयोगवेत्ता पं. रतनलाल बैनाड़ा द्वारा शिविरार्थियों की विभिन्न धार्मिक जिज्ञासाओं का आगमनिष्ठ समाधान प्रस्तुत किया गया।

अध्यापन कार्य में पं. अनंत बल्ले, पं. आशीष जैन, पं. सुधीर जैन बारामती, डॉ. अभय दगड़े, सौ. उज्ज्वला गोसावी, सौ. अंजली खोवरे, पं. विनीत जैन, पं. राजेश जैन 'राज', पं. विनोद बेलोकर, पं. प्रतीष काले, पं. सुरेश जैन आदि 25 विद्वानों का अद्वितीय सहयोग रहा। शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए योगाचार्य श्री नवीन जैन 'बरेली' द्वारा योगाभ्यास कराया गया। 27 मई को समापन समारोह में पुरस्कार वितरण के साथ शिविर सानंद सम्पन्न हुआ।

पं. पुलक गोयल
श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान,
वीरोदय नगर, सांगानेर, जयपुर (राज.)

आचार्य श्री विद्यासागर जी से पत्रकारों की बातचीत

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, वरिष्ठ संपादक- 'पार्श्व ज्योति'

कुण्डलपुर, दिगम्बर जैन श्रमणसंस्कृति परम्परा के प्रमुख संत आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के दर्शन एवं वंदन कर प्रत्येक व्यक्ति अपने को सौभाग्यशाली मानता है। उनकी ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्या की सभी प्रशंसा करते हैं। कुण्डलपुर में श्रुताराधना शिविर के शुभावसर पर अनेक जैन पत्र-पत्रिकाओं के संपादक भी आये थे। जिन्हें १५ मई की शाम को आचार्यश्री से वार्ता का संयोग मिला। पत्र पत्रिकाओं के संपादकों को दिये गये अपने मुख्य संदेश में आचार्यश्री ने बताया कि जैन पत्र-पत्रिकाओं को अन्य राजनैतिक पत्र-पत्रिकाओं से अलग होना चाहिए। पत्र का कार्य पत्रिकाओं के माध्यम से नहीं होना चाहिए अर्थात् जहाँ पत्र समाचारात्मक होते हैं वहीं पत्रिका विचारात्मक होनी चाहिए। पहले गलत जानकारी प्रकाशित करना, बाद में भूल सुधार के माध्यम से खण्डन करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। किसी भी समाचार को लोगों से सुनकर नहीं बल्कि तथ्यान्वेषणपूर्वक तथा आश्वस्त होकर प्रकाशित करें। पत्रकारों के ऊपर बहुत बड़ी सामाजिक जिम्मेदारी होती है उसका उन्हें सम्यक् निर्वाह करना चाहिए।

इस पत्रकार वार्ता में नवगठित अ.भा.जैन पत्र संपादक संघ से संबद्ध निम्नलिखित संपादक/पत्रकार उपस्थित थे- श्री कपूरचंद पाटनी (जैन गजट, जैन पार्श्व) डॉ. रमेशचन्द्र जैन, डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन (पार्श्व ज्योति), डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका, श्री अखिल बंसल (समन्वय वाणी), श्री नरेन्द्रकुमार जैन (स्वतंत्र जैन चिंतन), श्री रवीन्द्र मालव (वीर) डॉ. ज्योति जैन (जैन संदेश), डॉ. रतनचन्द्र जैन, पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया (जिनभाषित), पं. विराग शास्त्री (चहकती चेतना), अकलेश जैन (अजमेर आजकल), ब्र. जिनेश मलैया (संस्कार सागर)। पत्र संपादकों ने आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज से अनेक प्रश्न पूछे जिनके उन्होंने अपने ही रोचक एवं दार्शनिक अंदाज में उत्तर दिये। इस पत्रकार वार्ता के प्रमुख अंश इसप्रकार हैं-

१. आचार्य श्री! आपके वैराग्य का कारण क्या था?

उत्तर- अपने विषय में बताना 'आगम की आज्ञा'

नहीं है। संवेद्य को कथ्य नहीं बनाया जा सकता।

२. आचार्य पद मिलने पर आपको कैसा लगा?

उत्तर- अब इस विषय में क्या कहूँ?

३. आचार्यश्री ! आपको बुन्देलखण्ड ही प्रिय क्यों लगता है?

उत्तर- (हँसते हुए) प्रतिप्रश्न किया- व्यक्ति दुकान कहाँ खोलता है? उत्तर- जहाँ चलती है। वहाँ से उठाकर अन्यत्र कब जाता है? उत्तर- जब दुकान चलनी बंद हो जाती है। अगर वहीं डटा है तो क्यों? क्योंकि जहाँ रॉ मटेरियल मिलता है वहीं रहना ठीक होता है। इसतरह आचार्यश्री का स्पष्ट संकेत था कि और स्थानों के मुकाबले बुन्देलखण्ड में धार्मिक व्रत, आचरण की भावना अधिक है। लोगों में सच्चे साधुओं के प्रति आस्था है और स्वयं साधु बनने की भावना प्रबल है।

४. साधारण व्यक्ति जैनधर्म कैसे अपना सकता है?

उत्तर- शास्त्रों में इसकी विधि बताई गई है। आचार्य जिनसेन ने प्रतिज्ञा की थी कि जब आप लोग १००० जैनी बना देंगे तभी आहार के लिए उटूँगा। ऐसे-ऐसे महाराज हुए हैं जिन्होंने १०० या १००० जैन बनाकर आहार लिया है। इस बात का इतिहास साक्षी है। जैनधर्म बहुत विशाल है किंतु हम संकीर्ण हो गये हैं। हमारे धर्म की विशालता का कारण इसका विशाल दृष्टिकोण है। हम जब तक गुण और दोष नहीं बताते तब तक व्यक्ति प्रभावित नहीं हो सकते। हमें संकीर्णता को तोड़ना होगा। आज तो हम अपने को नहीं संभाल पा रहे हैं दूसरों को कैसे संभालेंगे? जैन बनने से पहले जैन धर्म के सिद्धान्तों को पूरी तरह से आत्मसात् करना चाहिए। रहन-सहन, पहनावा-उढ़ावा में भी परिवर्तन करना जरूरी है। हमें तंत्र, मंत्र, यंत्र की जगह वास्तविक धर्म को समझकर अपनाना होगा, संकीर्णता को छोड़ना होगा।

५. संकीर्णता कैसे टूटे?

उत्तर- (हँसकर) आप बताओ? राजस्थान से व्यक्ति आसाम क्यों गये? उत्तर- समस्याएँ बहुत हैं किन्तु वहाँ व्यापार अच्छा है। हमें भी इसीतरह लक्ष्य की ओर देखना

चाहिए। जैनी बनाने की आगम में विधि है किन्तु हम हैं कि और टूट-फूट करते जा रहे हैं। अल्पसंख्यक स्वयं में हैं और उसमें भी टूट-फूट?

६. हम साधर्मी बन्धुओं का सहयोग कैसे कर सकते हैं?

उत्तर- सौ संतान के बराबर एक वृक्ष होता है। वृक्ष के पास कई पथिक आयेंगे और आक्सीजन ग्रहण करेंगे? वृक्ष निष्पक्ष भाव से सभी को आक्सीजन आदि की सुविधा देता है इसीतरह हम सभी साधर्मी बन्धुओं के सहयोग के लिए आगे आयें। हम विषय-कषायों के पोषण में लाखों रुपये खर्च करते हैं लेकिन साधर्मी के संरक्षण एवं उत्थान में एक पैसा भी खर्च नहीं करते। इस विषय में हमें सिंधी एवं पंजाबी समाज का अनुकरण करना चाहिए। हमारे यहाँ आहारदान, औषधिदान आदि के साथ आश्रयदान की भी बात कही गई है। जिस ओर विद्वानों को समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहिए। हमें जैन आचार संहिता बना लेना चाहिए। आज लोगों को समानता चाहिए, सम्मान चाहिए।

विजातीय विवाह के संबंध में पूछे जाने पर आचार्य श्री ने कहा कि जिस लड़की को आप अपना रहे हैं उसे आत्मसात् कर रहे हैं या नहीं? वह भी हमें आत्मसात् कर रही है या नहीं? इस प्रक्रिया में हमें ध्यान रखना चाहिए कि समाज में क्षोभ न हो। खण्डेलवाल जैन जाति के इतिहास में डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल ने जिसप्रकार गोत्रोत्पत्ति के विषय में लिखा है उससे पता चलता है कि समाज ने आत्मसात् किया है। पहले गुरुकुलों में समाज व्यवस्था लागू थी। पहले बच्चे को प्रवेश करा देते थे फिर उनमें नियम और संस्कार देते थे। इस प्रक्रिया के लिए हमें सामाजिक वातावरण बनाना होगा। दक्षिण में जैन बनाने की विधि, संस्कार आज भी हैं।

७. आचार्यश्री! सप्त परम स्थान दीक्षा के लिए जरूरी हैं?

उत्तर- जिसे अपनाया जा रहा है उसे आत्मसात् करना है हमारे यहाँ शास्त्रों में द्विज बनाने की प्रक्रिया है। शास्त्रों में जैन ब्राह्मण का उल्लेख आया है। जैन ब्राह्मण क्या होता है? इसे आप लोग समझें।

८. पंथवाद को कैसे रोकें?

उत्तर- धर्म से पंथ का कोई नाता नहीं लेकिन व्यक्ति अड़े हुए हैं और बिना चले चला रहे हैं। हमारे लिए आगम ही पंथ है। आज स्थिति यह हो गई है कि 'हम धर्म छोड़

सकते हैं, पंथ नहीं।' पत्र/संपादक भी बँटे हुए हैं। पंथवाद का इतना आग्रह है कि ढाई घंटे कहने (समझाने) के बाद भी टस से मस नहीं होते। आज तो लोग पंथाग्रह के कारण सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर भी विश्वास नहीं कर रहे हैं।

९. हमारे यहाँ आयोजनों (पंचकल्याणकों) की अधिकता हो रही है जिससे धन का अपव्यय हो रहा है। अभी जयपुर में ही अनेक बड़े आयोजन एक ही तिथियों में एक जैसे हुए?

उत्तर- जयपुर भी तो बड़ा है? आयोजनों को भी करना है, उन्हीं तिथियों में करना है और प्रतिस्पर्धा भी है जो उपयोग होना चाहिए था वह नहीं हो रहा है। उपयोग सही होना चाहिए।

१०. एक आचार्य के संघ में अनेक आचार्य बन रहे हैं, बनाये जा रहे हैं?

उत्तर- इस विषय में हम अपने विचार पूर्व में ही बता चुके हैं। पूर्व में कुछ आचार्य संहितायें भी बनी हैं।

११. क्या विदेशों में दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार नहीं हो सकता?

उत्तर- हमारे आचार्यों ने इस विषय में दिशा निर्देश दिये हैं। कहा है कि-

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।

दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

सर्वार्थसिद्धि में भी आचार्य पूज्यपाद ने मार्ग प्रभावना का स्वरूप बताया है-

ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिनाधर्मप्रकाशनंमार्गप्रभावना।

अर्थात् ज्ञान, तप, दान और जिन पूजा इनके द्वारा धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है।

१२. आचार्य श्री, हम आपकी रचनाओं में श्रेष्ठ किसे कहें?

उत्तर (हँसकर) इस रचना में रच... ना।

१३. क्या श्रमण परम्परा वैदिक परम्परा से प्राचीन है?

उत्तर- चिंतन करो। श्रमण परम्परा और वैदिक परम्परा अलग-अलग हैं। अथर्ववेद के १५ वें ब्राह्मणकाण्ड में श्रमणों का वर्णन है लेकिन वैदिकों ने इसकी टीका ही नहीं लिखी। सायण ने भाष्य नहीं लिखा। आप लोग प्रमाद छोड़कर इस दिशा में कार्य करें।

१४. व्यापार में जैन, जैनाचार के विरुद्ध कार्य कर

रहे हैं?

उत्तर- आप क्या कर रहे हैं? आप लोग व्यापार ऐसे कर रहे हैं जो नहीं करना चाहिए। जो शराब एवं अभक्ष्य पदार्थों का व्यापार कर रहे हैं उन्हीं को आप माला पहना रहे हैं। हम से वैदिक लोग पूछते हैं कि आपके धर्म में जिन बातों का निषेध है उन्हीं को जैन लोग खुले आम क्यों कर रहे हैं? आज न श्रावक में भीति है, न श्रमण में।

१५. राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वहन कैसे करें? धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में धर्म का पालन कैसे करें?

उत्तर- महापुराण के उत्तरार्ध में इसका उत्तर मिलता है। राष्ट्र और समाज का संवर्धन करके ही इसका निर्वहन हो सकता है। आप लोग काम करें। इस दिशा में एक प्रतिशत भी काम नहीं हो रहा है। हम एक व्यक्ति को भी धर्मात्मा नहीं बनाते। सही आय का स्रोत है 'धर्म रुचि'। धर्मात्मा बनाओ। आज लोग ५ लाख की बोली तो ले लेते हैं किन्तु ५ व्यक्तियों को धर्मात्मा नहीं बना सकते। यदि निराश्रित लोगों को आश्रयदान दिया जाय तो धर्म का संरक्षण हो सकता है। एक लाख रुपये देने पर पूरे परिवार का गुजारा हो सकता है। इस तरह पांच लाख देने पर ५ परिवार धर्मात्मा बन जायेंगे। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है-

स्वयूथ्यान् प्रतिसद्भाव सनाथापेत केतवा।

प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलष्यते॥

अर्थात् अपने साधर्मि बंधु समूह के प्रति छल-कपट रहित तथा सद्भावना सहित उनकी योग्यतानुसार आदर सत्कार करना वात्सल्य गुण कहा गया है।

१६. क्या प्रवचन में तालियां बजाना उचित है?

उत्तर- यह लौकिक भाषणों एवं नारों का प्रभाव है। प्रवचन के दौरान कही गई बातों की प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिए भी लोग ऐसा करते हैं।

१७. आचार्यश्री, बड़े बाबा की मूर्ति के स्थानांतरण को लेकर जो पूर्व में आशंकायें व्यक्त की गई थीं वह निर्मूल साबित हुईं। आज बड़े बाबा उच्चासन पर सुरक्षित विराजमान हैं, फिर भी ऐसा लगता है कि ९० प्रतिशत लोग समर्थन में हैं, शेष १० प्रतिशत विरोध में?

उत्तर- समाज को योग्य-अयोग्य के विषय में सोचना चाहिए। यदि उचित कार्य है तो ९० या ५० प्रतिशत क्यों? शत प्रतिशत समर्थन क्यों नहीं? १० प्रतिशत भी

अप्रसन्न क्यों हैं? यह जनतंत्र का नहीं आस्था का प्रश्न है।

१८. क्या यह प्रक्रिया बार-बार दुहराई जानी चाहिए।

उत्तर- सामाजिक कार्य के संबंध में सोच-विचार कर समाज को निर्णय लेना चाहिए। योग्य-अयोग्य के विषय में सोचना चाहिए।

१९. आचार्यश्री, आज पूर्वाचल में एक आचार्य का प्रवास चल रहा है उनका स्पष्ट कहना है कि मैं कुन्दकुन्द को नहीं मानता, वे कहते हैं कि कुन्दकुन्द एकान्तवादी थे क्योंकि उन्होंने मात्र द्रव्यानुयोग की चर्चा की है। उन्होंने 'मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो' के स्थान पर 'मंगलं पुष्पदन्ताद्यो' कहना प्रारंभ कर दिया है जबकि किसी भी मूल श्लोक में परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। हम विरोध करते हैं तो कहते हैं कि 'हम मुनि विरोधी हैं'। वे गुवाहाटी में चातुर्मास करना चाहते हैं जबकि हमारे यहाँ की पंचायत ने शिथिलाचारी साधुओं का चातुर्मास न कराने के लिए प्रस्ताव पास किया हुआ है। हम लोगों पर बड़ा प्रेशर है।

उत्तर- इसका अर्थ, कि प्रेशर है !!! मतलब समर्थक भी हैं? हमारे विचार स्पष्ट हैं। सत्य की बात (सही बात) सुनने के लिए भी धीरज और सहनशीलता/समता चाहिए। पक्षपात को छोड़कर ही सत्य का निर्णय किया जा सकता है। यदि पंथवाद, जातिवाद, राजनीति है तो धर्म/सत्य को कोई सुनेगा नहीं। आज यही हो रहा है।

२०. आजकल बाल गोपाल टी.वी. के विभिन्न चैनलों से कुसंस्कार ग्रहण कर रहे हैं, ऐसे में हम क्या करें?

उत्तर- अपने घरों से टी.वी. वगैरह को विसर्जित कर दीजिए। इससे हानि ही हानि है। लाभ कुछ भी नहीं है।

पत्रकारों के विशेष मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद की चाह के उत्तर में आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने कहा कि मेरी भी पत्रिका हर रविवार को प्रकाशित होती है जिसे हजारों लोग अपने घरों में ले जाकर पढ़ते हैं। इस तरह आचार्य श्री का संकेत था कि उनके द्वारा दिये जाने वाले रविवारीय प्रवचन के माध्यम से धर्म और समाज हित के लिए मार्गदर्शन दिया जाता है।

ए-२७, नर्मदा विहार,

सनावद - ४५११११ (म.प्र.)

श्रुतपंचमीपर्व-वंदनाष्टक

प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार शास्त्री 'दीवान'

परम पावन यह मंगल बेला, जिनवाणी सौ बार प्रणाम ।

श्रुतपंचमी पर्व नाम है, मुनि नर सुर गण करें उत्थान ॥

द्रव्य श्रुत का पावन रक्षण, संरक्षण और संर्द्धन ।

धन्य-धन्य सौभाग्य हमारे, जिन वचनामृत किया ग्रहण ॥

तीर्थकर, गणधर आदिक, केवलि या श्रुतकेवलि पूज्य ।

अंग पूर्व के ज्ञाता मुनिवर, अंग अंश धारी गुरु पूज्य ॥

प्रत्यक्ष रहा यावत सुयोग इन, धन्य धन्य था पूर्ण संसार ।

कालचक्र गतिमान जगत में, जिन वचन विलोपन विविध प्रकार ॥

धन्य-धन्य धरसेन गुरुवर, हृदय मांहि तिन किया विचार ।

रहे अमर जिनवाणी जग में, अतः आलेखन हो संसार ॥

भूतबली व पुष्पदंत मुनि, गुरु आज्ञा ली उर में धार ।

षट्खंडागम प्राभूत लिखकर, किया जगत जन परमोपकार ॥

यही तिथि वह आज जान लो, हुआ आलेखन पूर्ण द्रव्य श्रुत ।

ज्येष्ठ मास की शुक्ल पंचमी, श्रुत पंचमी-पर्व उत्कृष्ट ॥

आज ऋणी हम सब उन गुरुवर, जिनवाणी जिन योग-महान् ।

श्रुत लेखन की शुचि प्रणाली, जन-जन का करती कल्याण ॥

आज सभी निज कर्तव्य जान लें, ग्रंथ-शास्त्र की करें संभार ।

जीर्ण-शीर्ण जो ग्रंथ हुये हैं, करें संरक्षण-सभी प्रकार ॥

ग्रंथ लिखावें प्रेस छपावें, ज्ञान दान का परम-उपहार ।

शाला और विद्यालय चलाकर, श्रुत बीज वपन का करें प्रचार ॥

जहाँ-जहाँ ग्रंथ भंडार हमारे, करें सभी हम साज-संवार ।

माँ सेवा उत्कृष्ट कही जग, माँ ही करती बेड़ा-पार ।

जिनवाणी का पठन-पाठकर, श्रवण करें या अनुमोदन ।

मनन-चिन्तवन, आत्मसात कर, मुक्तिरमा का आलिंगन ॥

आज करें जिनवाणी अर्चना, शोभा यात्रा-विविध प्रकार ।

जन-जन कों दे परम प्रेरणा, करें जगत-जग यह उद्धार ॥

मति-श्रुत ज्ञान समन्वित जगजन, अवधि-मनःपर्यय शुभ भाव ।

कैवल्य ज्ञान उपलब्धि पाने, करो भव्य जन कोटि-उपाव ॥

जिनवाणी जगमात हमारी, करें मुनी-गण अनुकरण ।

श्रावक जन जिनवाणी श्रवणकर, श्रमण संघ की सेव नमन ॥

ज्ञानदान ही महादान है, सभी दान शौभे निज थान ।

शाश्वत् सौख्य दिलाने वाला, यही करेगा जिय उत्थान ॥

अन्त भावना-

देव शास्त्र गुरु रतन तीन जग, देते यही जग परम प्रसाद ।

उत्कृष्ट परम पदपाते भविगण, करें सु-अर्चन दिन या रात ॥

करूँ गमन मैं या पथ पावन, मुक्तिवधू का मधुर मिलन ।

नमन 'पवन' का या तिथि पावन, जिन भक्ति ही रहे शरण ॥

मोरेना (म.प्र.)



जैन पत्र-सम्पादकों से वार्ता करते आचार्य श्री विद्यासागर जी
श्रुताराधना शिविर कुण्डलपुर (दमोह) म.प्र.
14 मई से 16 मई 2007



आचार्य श्री विद्यासागर जी की पूजा करते हुए विद्वान-श्रावक आदि
श्रुताराधना शिविर कुण्डलपुर (दमोह) म.प्र.
14 मई से 16 मई 2007